श्री भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड, बुकसेलर,
१ अनसारी रोड, नया दरियागंज, दिल्ली के अधिकार से प्रकाशित

मुद्रक—
नरेन्द्र प्रिंटिंग प्रेस,
२० मॉडल बस्ती
दिल्ली

भूमिका

सभी वक्तव्य और श्रोतव्य शब्द के अधीन होता है। शब्द-साधुत्व ज्ञान के लिए यथा व्याकरण शास्त्रीय-ज्ञान नितान्त आवश्यक है, तथैव शब्दनिष्ठ दोष गुण रीति अलङ्कारों के ज्ञानार्थ साहित्य-शास्त्रीय ज्ञान भी परमावश्यक है। काव्य मीमांसा के अनुसार काव्य का अच्छापन या बुरापन जिसके द्वारा ज्ञात हो वह साहित्यशास्त्र है उसमें शब्द और अर्थ दोनों ही तुल्य कक्ष होते हैं।

साहित्य शास्त्र का प्रारम्भिक समय

साहित्य विषयों का सर्वप्रथम विचारक ग्रन्थ व्यासकृत 'अग्निपुराण' है। उसमें काव्य सम्बन्धी गुण दोष रीति और अलङ्कारों का विवेचन हुआ है तथापि उसको पृथक् साहित्य-शास्त्र कहलाने का श्रेय भामह, दण्डी, भट्टोद्भट, रुद्रट, वामन, वाग्भट आदि के ग्रन्थों से प्राप्त हुआ फिर उसमें उत्तरोत्तर गम्भीरता प्रौढता तथा मर्मस्पर्शिता बढती गई।

साहित्यबिन्दु

साहित्यबिन्दु ग्रन्थ, साहित्य-ग्रन्थों के मनन का फल है और आधुनिक छात्रों का दृष्टिकोण सामने रखकर लिखा गया है। यह चार विभागों में विभक्त है—कारिका, वृत्ति, उदाहरण और उदाहरण-विवरण। इनमें कारिका, वृत्ति और विवरण अपने हैं, उदाहरण नब्बे प्रतिशत अपने हैं परन्तु क्वचित्-क्वचित् अन्य भी हैं। जिसमें नब्बे प्रतिशत लिखने की शक्ति है वह सौ भी लिख सकता है परन्तु सभी अपने उदाहरण हृदयङ्गम नहीं होते। चन्द्रालोक साहित्यसार और रस-गङ्गाधर को ही ले लीजिये इनमें बहुत उदाहरण हृदयग्राही नहीं बने। हम उन उदाहरणों को दृष्टि में होते हुए भी विस्तारभय से दिखाना नहीं चाहते विद्वान् स्वयं देखें। क्या साहित्य-दर्पणकार कविराज विश्वनाथ, सभी उदाहरण अपने नहीं दे सकते थे इसी से समझ लीजिये। साहित्यबिन्दु

में साहित्यविषयों का जैसा मधुराक्षरों में स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण हुआ है वह तो साहित्यविद्वान् ही बताएंगे। यद्यपि यह ग्रन्थ अल्पकाय है तथापि काव्यप्रकाशवत्-नाटकादि भेदों से विरहित नहीं, साहित्यदर्पणवत् विषयविवेचना दरिद्र नहीं, प्रमेयांश को परिष्कृत करता हुआ भी रसगङ्गाधरवत् — दुष्प्रधर्ष्य (दुरूह) नहीं, अलकार-कौस्तुभवत्— अनुपयुक्त विस्तारबहुल नहीं, चन्द्रालोक साहित्यसारवत्—केवलपद्यबद्ध नहीं, पद्यबद्ध ग्रन्थों में विवशतावश प्रतिपाद्य विषयों का संकोच करना पड़ता है पूर्ण विश्लेषण नहीं हो पाता।

साहित्यबिन्दु के निर्माण-प्रयोजन

इस ग्रन्थ के निर्माण-प्रयोजन निम्नलिखित हैं—

छात्रों को सरल रीति से साहित्यशास्त्र का सामान्य ज्ञान कराना। अलकारादि के भेद-प्रभेदों की उलझन से बचाना। प्राचीन-साहित्य ग्रन्थों के गन्दे अश्लील उदाहरणों से हटाकर शिक्षाप्रद उदाहरणों द्वारा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की ओर अग्रसर करना। साम्प्रतिक अल्पश्रमी छात्रों को परिष्कृत-सरलसंस्कृत द्वारा वाद-युग की प्राचीन-पद्धति में प्रवृत्त कराना। जिन ग्रन्थों में यह पद्धति नहीं है उनको विद्वत्समाज आदर की दृष्टि से नहीं देखता प्रत्युत साहित्यशास्त्र की इस भाषा को नरमार्या मानता है, और कहता है कि साहित्य कोई प्रौढ विद्या नहीं, परन्तु रसगङ्गाधर अलकार-कौस्तुभ साहित्यबिन्दु ग्रन्थों के निर्माण के पश्चात् अब विद्वत्समाज भी 'साहित्यशास्त्र कोई प्रौढ विद्या नहीं' यह कहने का साहस नहीं कर सकेगा। साहित्यबिन्दु में पद-पद पर शास्त्रान्तर प्रमाणों से साहित्य विषयों को उपोद्बलित किया गया है जिससे यह बात अवगत हो जावे कि साहित्यशास्त्र सब शास्त्रों का सार है। पिष्टपेषण भय से सभी उदाहरण भी यहाँ पवित्र एवं केनाप्यनाघ्रात, दिये हैं। साहित्यबिन्दु के पचासों स्थलों में काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, और बाहुल्येन रसगङ्गाधर पर विचार किया गया है वह किसी गर्व से नहीं, प्रत्युत वाद-युग की प्राचीन पद्धति की रक्षार्थ। भट्टमम्मट और

हर्ष-मिश्र की यह किंवदन्ती सुनने में ही आती थी कि श्रीमम्मट ने हर्षमिश्र के महाकाव्य नैषध को अनेक दोष दूषित बतलाया था। परन्तु उसके अनन्तर कालीन उद्भट साहित्य-ग्रन्थकारों (विश्वनाथ कविराज, जगन्नाथ पण्डितराज, विश्वेश्वरतार्किक प्रभृति) ने भी अपने ग्रन्थों में नैषध का एक भी दोष नहीं दिखलाया। केवल एक दोष रसगङ्गाधरकार ने दिखाया है—तब यह भी नहीं कह सकते कि उधर दृष्टि नहीं गई। साहित्यबिन्दु में सम्पूर्ण ही दोष-प्रकरण नैषध से लिया गया है जो ग्रन्थ का वैशिष्ट्य प्रदर्शित करता है। हम अधिक न लिखकर इसकी उपयोगिता का निर्णय विद्वानों पर ही छोड़ते हैं।

प्रकृत-ग्रन्थकार के सबन्ध में भी यहाँ दो शब्द लिखने अनुचित नहीं होंगे। साहित्यबिन्दुकार पवित्र-कुरुक्षेत्र भूमि के निवासी गौड़ ब्राह्मण हैं। आपका जन्म स० १९५२ मे हुआ था। आपके पिता पितृव्य श्री मोक्षराम मनसाराम मन्हूरामजी कृषिकार थे, परन्तु बड़े भ्राता प० मूलचन्द्रजी और कनिष्ठ पितृव्य प० शिवदत्तजी अच्छे विद्वान् थे। उनसे तथा अन्य विद्वानों से आपने स्वतन्त्ररूपेण अध्ययन कर शास्त्रों का चूडान्त ज्ञान प्राप्त किया। और फिर वि० १९७५ में पञ्जाबविश्वविद्यालय की शास्त्रि-परीक्षा भी उत्तीर्ण की। ४० वर्षों से आप जींद, लायलपुर, महेन्द्रगढ़, कुरुक्षेत्र नगरों के महाविद्यालयों में प्रधानाध्यापक पद पर पढ़ाते रहे हैं। १९७७ सवत् मे गोवर्धन मठाधीश जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीभारती कृष्णतीर्थ ने आप को 'विद्यासागर' पदवी से अलंकृत किया। आसन्न ३० वर्षों से आप पञ्जाबविश्वविद्यालय की शास्त्रिपरीक्षा के मुख्य परीक्षक हैं। और सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के भी आप परीक्षक रहे हैं। आपने बीसों ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें न्यायमुक्तावलि, न्यायदर्शन, वेदान्तसार और कुरुक्षेत्रमाहात्म्य की टीकाए मुद्रित और प्रसिद्ध हैं। निरुक्त-महाभाष्य और लघुकौमुदी की टीकाए अभी अप्रकाशित हैं। मौलिकग्रन्थ—सुरतान चरित्रकाव्य, दुर्गाभ्युदयनाटक, साहित्यबिन्दु और संस्कृतेतिहास हैं। इसी सस्कृतेतिहास पर २०१७ स० में विश्वविद्याप्रतिष्ठान बम्बई की

ओर से (थीसिस द्वारा) आपको 'महामहोपाध्याय' पदवी प्राप्त हुई है। २०१० सं० में पं० वामदेव जी उपाध्याय की प्रेरणा से अ० भा० संस्कृत-प्रचारक मण्डल की ओर से एक महती सभा में आपको संस्कृत सेवाओं के उपलक्ष्य में दिल्ली राज्य के मुख्यमन्त्री द्वारा ५०००) पाँच हजार रुपये की थैली भेंट की गई थी। आकाशवाणी दिल्ली से आपके वेदों पर भाषण होते हैं। आजकल आप संस्कृत-विश्वपरिषत्संबन्धित भारतीय-विद्याभवन दिल्ली में सम्मानित प्राध्यापक हैं और अखिल-भारतीय संस्कृत-प्रचारक मण्डल का संचालन कर रहे हैं। आपकी आज्ञा से मैंने साहित्यबिन्दु पर हिन्दी टीका लिखकर छात्रों के उपकारार्थ साथ लगा दी है। इसकी उपयोगिता का निर्णय विद्वान् ही करेंगे। इस सटीक ग्रन्थ के प्रकाशन का श्रेय संस्कृतप्रेमी—भारतविख्यात पुस्तक-प्रकाशक, श्री सुदर्शनकुमार, प्रबन्धाध्यक्ष—श्री भारत भारती प्राइवेट लि० दिल्ली को है जिन्होंने अपने अत्यावश्यक अनेक कार्यों को छोड़कर इसे शीघ्र प्रकाशित किया है।

नम्रनिवेदक
जीवनराम शास्त्री

विषय-सूची

शुद्धि-अशुद्धि-पत्रम्

अध्ययनात् पूर्वं अशुद्धी शोधयत

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
अवगा	अवगत	४०
गोमातृवगस्य	गोमातृयनस्य	७३
सभादन	सभादनात	७५
कान्तविषयाग्नीति	कातविषयारति	८३
वदानि	स्मराति	८५
मलेनगत्रूणां	मलेमपुनर्द्विपा शत्रूणा	११३
रूपकालकार	रूपकमिश्रय	११३
विरुध्यतेपुनर्द्विपा	विरुध्यते	१२६
वेति	एवेति	१२७
दतु	ददतु	१६६
नश्त योग्या	कर्तुं योग्या	१६७
विचाय	विचार्यं	१७६
धावत्युभयत्र	धावत्युभयत्र	१७६
मोर	मोरग	१७६
सदवय	तदय	१९२
अपह्नातु	अपह्नोतु	१९२
प्रयोज्यरत्रोक्ते	प्रयोजकत्वोक्ते	२२९

साहित्यबिन्दुः

सुशीलाख्य-हिन्दी-व्याख्यया सहितः

प्रथमो बिन्दुः

इह खलु मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्, फलदर्शनात्, श्रुतितश्चेति स्मृतेः। "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते" इति भूवादिसूत्र-भाष्योक्तेश्च प्रारिप्सित-प्रतिबन्धकोपशमनफलं, शिष्टाचारपरम्पराप्राप्त 'समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्' इतिश्रुतिसमर्थितं गणेशादिनमस्कारात्मक मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थं निबध्नन्नविकीर्षितं प्रतिजानीते।

स्वतन्त्रा सर्वतन्त्रेषु येषां धीरवगाहते।
साहित्यबिन्दुनिर्मातॄन् पितृपादान्प्रणौमि तान् ॥

श्रीमत् पूज्य तातचरण, महामहोपाध्याय महाकवि पण्डित छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर, निजनिर्मित कारिकाओं की व्याख्या करने के निमित्त मङ्गलाचरण-पद्यों का प्रयोजन बतलाने के लिये अवतरण देते हैं—इह खल्विति—मङ्गलाचरण करने में शिष्टाचार फलदर्शन और श्रुति प्रयोजक हैं। साक्षात्कृतधर्मा अधिगत याथातथ्य विद्वान् शिष्ट कहलाते हैं। उनका कहना करना शिष्टाचार कहलाता है, उसका उपोद्बलक फलदर्शन है, दोनों का उपोद्बलक श्रुति-प्रामाण्य है। मङ्गलाचरण—प्रारिप्सित (ग्रन्थ) की निर्मिति के प्रतिबन्धक विघ्नों का विघातक होता है। विघ्न-विघात से निर्विघ्न समाप्ति होती है। इस प्रकार मङ्गल विघ्नविघात का साक्षात् कारण, और समाप्ति का परम्परा-सबन्ध से (विघ्नविघात द्वारा) कारण होता है। व्याकरण-महाभाष्यानुसार—जिन शास्त्रों के आदि, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण होता है, वे शास्त्र निःसन्देह

फलते और फूलते हैं। श्रुति के अनुसार भी अपने क्रियमाण ग्रन्थ की समाप्ति चाहने वालों को मङ्गलाचरण अवश्यमेव करना चाहिये। इन्हीं सब प्रमाणों से तथा मेरे से किये हुए मङ्गलाचरण को देखकर मेरे शिष्य-प्रशिष्य भी अपने ग्रन्थों में मङ्गलाचरण किया करें, इस उपदेश के हित ग्रन्थकार आदि में गणेशादि का मङ्गलाचरण करते हैं। यद्यपि कारिकाकार और वृत्तिकार एक होने के कारण अवतरण में उत्तम पुरुष के एकवचन का प्रयोग प्रतिज्ञाने होना चाहिये था, तथापि भेदारोप करके ऐसा प्रयोग निरभिमानिता प्रदर्शनार्थ किया जाता है। इससे अहपदजन्य अहंकार का आभास नहीं होता॥

श्री गणेशं नमस्कृत्य मामकीं नाम मातरम्।
पितरं मोक्षरामाह्वं मूलचन्द्रं च सोदरम्॥१॥

जीन्दपुर्यां रविक्रोशे जामणीग्रामसन्निधौ।
कुरुक्षेत्रमध्यवर्ति - रिटोली-ग्रामवासिना॥२॥

महामहोपाध्यायेन विद्यासागरशास्त्रिणा।
गौड़-पण्डितवर्येण छज्जूरामेण शर्मणा॥३॥

साहित्यसारमादाय साहित्यागम-विस्तरात्।
साहित्यबिन्दुः क्रियते साहित्यज्ञान-वृद्धये॥४॥

साहित्यागमविस्तरात्। साहित्यशास्त्रविस्तरे प्रविश्य, ल्यब्लोपे पंचमी। साहित्य च सहितयोर्भावः कर्म वा साहित्य ष्यञ्प्रत्ययः। सहभावश्च शब्दार्थयो॰, सहितयो शब्दार्थयोः काव्ये प्रयोगात्। तुल्य-कक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वचमत्कारजनकत्वाच्च। तदिव—कविकर्मणः शासकत्वात्साहित्यशास्त्रमिति व्यपदिश्यते। यत्रेदमुच्यतेऽस्माभिः "तावच्छास्त्र रुचिकर न्यायव्याकरणादिकम्। कान्ताकटाक्षवत् यावत्साहित्यं नावलोक्यते॥ साहित्यात् प्रकृतेः पुंसः संसारो जायतेऽखिलः। साहित्यादेव मोक्षश्च जीवात्म-परमात्मनो॥ किं बहुना—"अधीयानोऽपि शास्त्राणि

साहित्येन विना तु ना । सम्यङ् नाप्नोति शास्त्रार्थनिर्यान् भाग्यमृते यथा ॥
अत्र साहित्यागमो विषयः । तज्ज्ञानं प्रयोजनम् । तज्ज्ञानकामोऽधिकारी । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सबन्धः' इत्यनुबन्धचतुष्टयम् । ग्रन्थाध्ययनप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञान-विषयत्वं चानुबन्धसामान्यलक्षणम् । तत्र विषयज्ञानादिष्टसाधनत्वप्रकारककृतिसाध्यत्वप्रकारकं चेति ज्ञानद्वयं जायते । अधिकारिज्ञानेन कृतिसाध्यत्वप्रकारकं, प्रयोजनज्ञानेन चेष्टसाधनत्वप्रकारकं, सबन्धज्ञानेन चोभयज्ञानं जायते' इति विवेकः । न च नित्ये सन्ध्यावन्दनादावप्रवृत्तिप्रसङ्गः । तत्रेष्टसाधनत्वाभावादिति वाच्यम् । तत्रापि प्रत्यवायपरिहारस्य पापक्षयस्य च फलत्वेन कल्पनात् । नचैवं तस्य काम्यत्वापत्तिः फलवत्त्वादिति वाच्यम् । फलकामनापूर्वकानुष्ठानाभावात् ॥४॥

श्रीगणेशमिति—भगवान् गणेश, मामकी नामक माता, मोक्षराम नामक पिता, और मूलचन्द्र नामक ज्येष्ठ भ्राता को सादर प्रणाम करके, जीन्द नगर से बारह कोस पर जामणी ग्राम से तीन कोस पर बसनेवाले, श्रुति स्मृति-पुराणेतिहास-विदित पवित्र कुरुक्षेत्र-मध्यवर्ति, रिटोली नामक ग्राम के वासी, महामहोपाध्याय महाकवि श्री छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर, साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों का सार ग्रहण करके साहित्यज्ञान की अभिवृद्धि के लिये 'साहित्यबिन्दु' नामक ग्रन्थ का निर्माण करते हैं। सहित के भाव या धर्म को साहित्य (साहित्य-शास्त्र) कहते हैं। सहभाव यहाँ शब्द और अर्थ का लेना चाहिए क्योंकि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का ही प्रयोग साथ-साथ होता है। दोनों तुल्यकक्ष हैं, समान ही चमत्कार-जनक हैं। न तो शब्द की अपेक्षा अर्थ ही न्यूनाधिक चमत्कार-जनक है, और न अर्थ की अपेक्षा शब्द ही। यह साहित्य-शास्त्र, कविकर्म (काव्य) का शासक (शिक्षाप्रद) होने से साहित्य नाम से पुकारा जाता है। यहाँ ये पद्य हैं—तावच्छास्त्रमिति—न्याय-व्याकरणादि शास्त्र तभी तक पढ़ने में रुचि रखते हैं जब तक कामिनी-कटाक्षस्थानीय साहित्यशास्त्र दृष्टिगत नहीं होता। साहित्यादिति—प्रकृति और

पुरुष में साहित्य (संयोग) से समस्त संसार की उत्पत्ति होती है। और जीवात्मा और परमात्मा के साहित्य (अभेदबुद्धि) में ही मोक्ष होता है। अधीयानोऽपीति—जैसे बिना भाग्य धनाढ्य नहीं होता, वैसे साहित्य-शास्त्रीय ज्ञानशून्य पुरुष कदापि शास्त्रों का मर्मज्ञ नहीं होता। अत्रेति—यहाँ साहित्यशास्त्र विषय है, उसका ज्ञान प्रयोजन है, साहित्यज्ञानेच्छु अधिकारी, और प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। यही अनुबन्ध चतुष्टय कहलाता है। ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्ति कराने वाले ज्ञान का विषय अनुबन्ध होता है। विषयज्ञान से इष्ट-साधनत्व-प्रकारक और कृति-साध्यत्व-प्रकारक दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं। विशिष्ट बुद्धि में विशेष्यता का अवच्छेदक जो धर्म तत्प्रकारक निश्चय को कारण होने से अधिकारी के ज्ञान से—यह वस्तु मेरी कृति से साध्य (निष्पाद्य) है ऐसा ज्ञान होता है। यह यहाँ प्रवृत्ति-साध्यता ली जाती है। प्रयोजन ज्ञान से 'इदं मदिष्टसाधनम्' इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है। इष्ट साधनता यहाँ इष्ट में रहनेवाली जो साध्यता (कार्यता) उसका निरूपक (साधक) कारण लेना है। सम्बन्ध ज्ञान से उभयज्ञान (इष्टसाधनत्व-प्रकारक और कृति-साध्यत्व-प्रकारक ज्ञान) होता है। शङ्का—यदि ऐसा माना जावे तो सन्ध्यादि नित्य कर्म में प्रवृत्ति न होगी, क्योंकि यहाँ इष्ट-साधनत्व का अभाव है। परिहार—यहाँ भी पापक्षय फल माना जाता है। फल होने पर यह काम्य भी नहीं माना जाता, क्यों ? फल की कामना (इच्छा) न होने से ॥४॥

(काव्यलक्षणम्)

रम्यं शब्दार्थयुगलं काव्यमस्माभिरिष्यते।
रम्यताऽलौकिकाह्लाद-जनिका तत्र मन्यताम् ॥५॥

तत्र शब्दार्थयुगले, रम्यता-रमणीयता, सा च पुनः पुनरुच्चारणे-नानुसन्धानेन चालौकिकमाह्लादं जनयति। अलौकिकस्य चाह्लादगतश्च-मत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। 'पुत्रस्ते जात.' 'धन ते

दास्यामि' इति वाक्यार्थबुद्धिजातस्याह्लादस्य न अलौकिकत्वम्, अतस्तस्मिन् वाक्ये नैव काव्यत्वप्रसङ्गः। एवं हि चमत्कारविशिष्टं शब्दार्थयुगलं काव्यमिति फलितम्। काव्यं पठितं, काव्यं बुद्धं, इत्युभयविधव्यवहारदर्शनात्, काव्यपदशक्यतावच्छेदकं व्यासज्यवृत्ति, लक्ष्यतावच्छेदकं काव्यत्वमुभयनिष्ठत्वात्। उभयोरेव यथायथं कविप्रतिभाया आधारभूतत्वाच्च। यस्त्वग्निपुराणे—'शास्त्रे शब्दप्रधानत्वं तेन काव्यं विशिष्यते' "इति कर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया" इति वाक्यपदीये चोक्तं तदर्थाश्रयत्वाभिप्रायेण, अतएव 'नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतिः संगच्छते। पूर्वैः काव्यतत्त्वविद्भिः विपश्चिद्भिर्विद्वन्मनो विनोदाय काव्यस्य नानालक्षणानि कृतानि तेषु कानिचिच्छात्र-बुद्धि-वैशद्याय लिख्यन्ते। तथाहि—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यमिति काव्यालंकारसारसविवाकरो भामहः। इष्टार्थं व्यवच्छिन्नापदावली काव्यमिति काव्यालंकार-कुमुदकलाधरो दण्डी। 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरि'ति ध्वन्यालोककारः काव्यपुरुषावतार आनन्दवर्धनः। 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापीति, काव्यप्रकाशकारो वाग्देवतावतारो मम्मटः। वाक्यं रसात्मकं काव्यमिति, साहित्यार्णवकर्णधारः साहित्यदर्पणकारः कविराज-विश्वनाथः। तन्न। वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। नीरसेऽपि वस्त्वलंकारव्यञ्जके शब्दार्थयुगले काव्यत्वस्य ध्वनिकारादिसकलालंकारिकसम्मतत्वात्। 'कवयति रसभावान् विमृशतीति कविः तस्य कर्मकाव्यमिति साहित्य-विद्याधरविद्याधर। 'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥ इति सरस्वतीकण्ठाभरणकारः सर्वज्ञो भोजराजः। 'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता। सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥ इति चन्द्रालोककर्ता पीयूषवर्षी जयदेवः। यत्तु-सहृदयगोष्ठीगरिष्ठ-कविपण्डितराज-जगन्नाथ-प्रणीते रसगङ्गाधरे—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यमिति काव्यलक्षणमुक्तं तन्न युक्तम्। काव्यत्व-प्रयोजकस्यास्वादव्यञ्जकत्वस्य शब्दार्थयुगलेऽविशेषात्, शब्दार्थशरीरं

काव्यमिति ध्वनिकारादि लक्षणविरुद्धत्वाच्च। अतएव-वेदत्वादेरुभयवृत्तित्व-प्रतिपादक 'तदधीते तद्वेदे' ति सूत्र तद्भाष्य च सगच्छते। अर्थावबोधो वेदनमिहाभिप्रेत न स्वरूपमात्रम्। किञ्च शब्दमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे शब्दनिष्ठानामेव दोषगुणालंकार-ध्वनीनामेव निरूपणार्हत्वेनार्थगताना तेषां निरूपणस्यानुचितत्वात्। न च रसोपयोगितामात्रेण तेषां निरूपण-मस्त्विति वाच्यम्। काव्याङ्ग-निरूपण प्रतिज्ञाय तेषां निरूपणस्या-सगतत्वात्। भामह-रुद्रट मम्मट वक्रोक्तिजीवितकारादयोऽपि हि शब्दार्थयो साहित्यमेव काव्यत्वप्रयोजकमभिप्रयन्ति। अन्यथा साहित्यमिति व्यपदेशोपि शास्त्रस्यास्य न युज्येत इत्यहो मूलोच्छेदो पाण्डित्यप्रकर्षं पण्डित-राजस्य ॥४॥

तत्रेति—सर्वप्रथम काव्य-लक्षण कहते हैं—रम्यमिति। रमणीयता-सम्पन्न शब्दार्थ-युगल ही हमारे मत मे काव्य है। न तो केवल कमनीयता-पूर्ण शब्द ही काव्य होता है और न केवल वाच्यार्थ चमत्कारकारी अर्थ ही। रमणीयता यहाँ अलौकिक=लोकोत्तर आनन्द-जनकता ही स्वीकरणीय है, वह रमणीयता बारम्बार उच्चारण द्वारा तथा अनु-सधान=अर्थज्ञान द्वारा सहृदयो के लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करती है। उस आनन्द को एक ही अधिकरण मे सीमित नही कर सकते। आनन्दनिष्ठ-अलौकिकत्व यहाँ चमत्कारत्वापर नामक अनुभवजन्य अथवा अनुभव-प्रमाणक जाति विशेष ही मन्तव्य है। 'अनुभव साक्षिक' कहने से इतर प्रमाणो का निरास हो जाता है। वह अनुभव सहृदयो का ही होता है।

अब अलौकिकत्व विशेषण का कृत्य बतलाते हैं—पुत्रस्ते जात इत्यादि—'तुम्हारे पुत्र हुआ', 'तुम्हारे लिये धन दूंगा' इत्यादि वाक्यार्थ मे उत्पन्न होनेवाला आनन्द अलौकिक नही कहा जा सकता अतएव उन वाक्य मे काव्यत्व का प्रसङ्ग भी नहीं आता है। अब काव्य का परिष्कृत लक्षण करते हैं—एव होति—चमत्कार-विशिष्ट शब्दार्थ-युगल ही काव्य होता है। 'काव्य पढ़ा', 'काव्य जाना' ऐसा दोनो प्रकार का व्यवहार देखा

जाने से काव्य-पद की प्रवृत्ति दोनों में ही रहती है। क्योंकि लक्ष्य काव्य है, लक्षणावच्छेदक काव्यत्व शब्द और अर्थ दोनों में ही रहता है। कवि-प्रतिभा का आधार होने से समानरूपता दोनों ही कवि-संरम्भ-गोचर हैं। यदग्निपुराणे इति—अग्निपुराण में लिखा है कि शास्त्र में शब्द ही प्रधान है, काव्य में वैशिष्ट्य उद् द्वारा ही आता है। और लोक में सम्पूर्ण कार्य-निर्वाहकता शब्दाधीन है, यह जो वाक्यपदीय में कहा गया है, यह दोनों शब्दों को अर्थ का आश्रय होने के अभिप्राय से है। इसी कारण नाम (शब्द) रूप (अर्थ) दोनों का नाम श्रुति में लिया है। अब यहाँ विद्वानों के मनोविनोद के लिये प्राचीन-साहित्याचार्यों के अनेक काव्य-लक्षण बुद्धिवैशद्य के लिये लिखे जाते हैं। तथाहि—शब्दार्थौ सहितौ काव्यमित्यादि—शब्द और अर्थ दोनों मिले हुए ही काव्य हैं। यह सर्वश्री-भामह का मत है। रमणीयार्थ विशिष्ट पद-समूह काव्य है, यह आचार्य दण्डी का मत है। काव्य का आत्मा ध्वनि है, वह शब्द और अर्थ उभयनिष्ठ है, अतः शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य हैं, यह मत आनन्दवर्धन का है। दोषरहित, गुणसहित, अलंकारों से अलङ्कृत, शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं। यदि कहीं अलंकार स्फुट न हो तो भी कोई क्षति नहीं, यह श्री मम्मट का मत है। रसात्मक वाक्य ही काव्य है—यह कविराज विश्वनाथ का मत है। इनके मत में 'रसात्मक' पद का अर्थ है—रस ही जिसका जीवन-भूत माना है, वह वाक्य 'रसात्मक' कहलाता है। परन्तु यह काव्य-लक्षण ठीक नहीं, ऐसा कहने से ध्वनिकार आदि से सम्मत वस्तु और अलंकार-ध्वनियुक्त नीरस शब्दार्थ-युगल में जो काव्यत्व रहता है, वह नहीं रहेगा। रसभावादि विशेषण कवि का कर्म काव्य है, यह विद्याधर का मत है। दोषरहित अलंकारयुक्त गुणवत् और रसवत् वाक्य ही काव्य है, यह भोजराज का मत है। निर्दोष और लक्षणरीति-गुणालंकार रसवती तथा अनेक वृत्तिमती भारती काव्य होता है, यह कविशाक्षिक-अप्पदेव का मत है। रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है, यह पण्डितराज जगन्नाथ का मत है। परन्तु ठीक नहीं

क्योंकि आस्वादव्यञ्जकत्व ही काव्य-निर्माता है। वह शब्द और अर्थ दोनों में ही समान रूप से रहता है। इसीलिये 'तदधीते तद्वेद' सूत्र और उसका भाष्य संगत है। क्योंकि सूत्र में अर्थावबोध ही वेदन माना है न कि स्वरूपमात्र। किञ्चेति—और शब्दमात्र में काव्यत्व मानने पर शब्दवृत्ति दोषादि का ही निरूपण साहित्यशास्त्र में कर सकेंगे, अर्थनिष्ठ दोषादि का नहीं, यह महती आपत्ति उपस्थित हो जावेगी। भामहादि सभी प्राचीन साहित्याचार्य, शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्यता मानते हैं, अन्यथा इस 'साहित्यशास्त्र' नाम की भी संगति न होगी ॥५॥

(काव्यफलम्)

धर्मस्यार्थस्य कामस्य मोक्षस्यापि प्रयोजकम् ।
कीर्तिप्रीतिकरं चाह भामहः काव्यसेवनम् ॥६॥

तत्र काव्यतो धर्मप्राप्तिरीश्वरस्तवनादिना यदुक्तं स्तुतिकुसुमाञ्जलौ—'ईशे तु कल्पिता सतां प्रभवति प्रख्यातये भूतये। चेतोनिर्वृतये परोपकृतये धर्माप्तये भारती ॥ इति ॥ 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' इति स्मृतिवाक्यन्तु भगवद्भिन्नवर्णनविषयकमेव, अतएव श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे पञ्चमाध्याये 'न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यश' 'स वाग्विसर्गो जनताघविप्लवः' इत्याद्युक्तम्। अर्थप्राप्ती राजादिस्तुत्या। यत्रेदमनुश्रूयते—'पवित्रे परकुरुक्षेत्रे स्थाण्वीश्वरमहापुरम्। तस्माद् हर्षस्ततो राज्यं चक्रे हर्षप्रदो विशाम् ॥ लिखित्वा तस्य वै हर्षचरितं काव्यमद्भुतम्। समागत. कविवर्णः तच्च तस्मै न्यवेदयत् ॥ तत्काव्यामृतमापीय हेम्नो भारशतं नृपः। स्वस्वभाया. प्रधानत्व बाणाय कवये ददौ ॥ कामस्य—विषयभोगादेः स्वर्गादेर्वा कामनाविषयस्य प्राप्तिरर्थद्वारा, अर्थसाध्य-यज्ञादिद्वारा वा प्रसिद्धैव। 'धर्मादर्थस्ततः कामः कामात्सुखसमुन्नतिरिति स्मृते.। 'स्वर्गकामो यजेत' इति श्रुतेश्च। मोक्षप्राप्तिस्तु मोक्षोपयोगि वाक्योपनिषदादौ तेषां व्युत्पत्तिजनकत्वात्। 'लोकव्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतेरिति साम्यदर्शनात्। 'मुमुक्षवोऽपि सिध्यन्ति विरागाद्रागपूर्वकात्' इत्यभियुक्तवचनाच्च। एत एव

धर्मार्थकाममोक्षाः पुरुषार्थपदेनोच्यन्ते । तथाचाग्निपुराणे—'धर्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्था उदाहृता इति ।। परमपुरुषार्थश्च सुखदुःखाभावश्चेति नैयायिकाः । भोगापवर्गाविति सांख्याः । यज्ञादि-कर्मेति मीमांसकाः । 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिरि'ति श्रुतेर्ब्रह्मज्ञानमेवेति वेदान्तिनः । 'धर्मार्थकाममोक्षाणां ज्ञानवैराग्ययोरपि । अन्तःकरण शुद्धेश्च भक्तिः परमसाधनम्' ।। इति स्मरणात् पञ्चदेवभक्तिरिति वयं स्मार्ताः । अन्यदन्यतोऽवसेयम् । कीर्तिकरत्वं वाल्मीकि, व्यास, भास, शूद्रक, प्रथम कालिदास, गुणाढ्य, समुद्रगुप्त, कालिदासकाव्यकार, कुमारदास, भर्तृहरि, भट्टि, भारवि, सुबन्धु, हर्षवर्धन, बाण, भट्टनारायण, दण्डि, भवभूति, माघ, मुरारि, रत्नाकर, विशाखदत्त, त्रिविक्रमभट्ट, पद्मगुप्त-कालिदास, राजशेखर, भोजराज, क्षेमेन्द्र, सोमदेव, बिल्हण, कल्हण, मङ्खक, श्रीहर्ष, धोई, जयदेव, जगद्धर, दीपकृष्ण, जगन्नाथ, नीलकण्ठ, वेङ्कटाध्वरि, हरिहर, अम्बिकादत्त, अखिलानन्द, प्रभृतीनामिव, चन्द्र, सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, पद्माकर, मैथिलीशरण, प्रसादादीनामिव वा । प्रीतिकरत्वम्—"कादम्बरीरसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते" "काव्य शास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्" इत्यादिना सहृदयानामतीव सुप्रतीतम् । अयमेवार्थः "काव्य यशसे" इति सूत्रेणाभिहितः साहित्यशास्त्रनिर्यासे काव्यप्रकाशे ।।६।।

इस ग्रन्थ का फलनिर्देश करनेवाली कारिका का अवतरण करते हैं अस्येति—जैसे प्रयाजादिक, यज्ञ के अङ्ग होते हैं, वैसे ही यह ग्रन्थ भी काव्य का अङ्ग है, अतः काव्यों के अध्ययनादि से जो फल होते हैं, इसके भी वे ही प्रधान फल हैं । इस कारण काव्यों के फल कहते हैं—

धर्मस्यार्थस्येत्यादि—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का देनेवाला, कीर्ति और प्रीति का करनेवाला काव्य का निर्माण तथा अध्ययन होता है । काव्य से धर्म की प्राप्ति—ईश्वर-स्तुति द्वारा होती है । स्तुति-कुसुमाञ्जलि में भी ऐसा ही माना है—ईशे तु व्यर्थितेत्यादि—ईश्वरस्तुति में प्रवृत्त हुई

वाणी, प्रख्याति (कीर्ति), ऐश्वर्य, चित्तप्रसाद, परोपकार और धर्मोत्पादक होती है। स्मृतियों में जो काव्यालापों का वर्णन निषिद्ध कहा है, वह असत्काव्यविषयक है। इसीलिए श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में प्रत्येक पद में हरि का यशोगान करना ही कवि-कर्तव्य कहा है। कविता वही है जिससे पापों का नाश हो। अर्थेति—धन आदि की प्राप्ति, राजा-महाराजाओं की स्तुति से हो सकती है, जैसाकि महाकवि बाण ने सम्राट् हर्षवर्द्धन की स्तुति से प्राप्त की। कामस्येति—कामना विषयक स्वर्गादि की प्राप्ति द्रव्य द्वारा अथवा द्रव्य साध्य यज्ञादि द्वारा प्रसिद्ध ही है। जैसाकि स्मृति में लिखा है कि धर्म से द्रव्य, द्रव्य से काम और काम=इच्छापूर्ति से सुख की प्राप्ति होती है। मोक्ष के उपयोगी उपनिषदादि वाक्यों में व्युत्पत्ति पैदा करने के कारण काव्य मोक्ष का भी हेतु है। यहाँ यह बात जानने योग्य है कि काव्य, धर्म और अर्थ के प्रति साक्षात् कारण है। और काम तथा मोक्ष के प्रति अधिकांश परम्परा सबन्ध से कारण होता है। उपर्युक्त बात की पुष्टि करने के लिये शास्त्रान्तर वचन होने चाहियें अतः काव्य वेदादि वाक्यों का भी व्युत्पादक है। इस अर्थ में सांख्यसूत्र का प्रमाण देते हैं—लोकव्युत्पत्तयेति—अर्थात्—काव्य-साहित्य ज्ञान, वैदिक ज्ञान को बढाता है। काव्य मोक्ष-जनक है, इस अर्थ को अभियुक्त वाक्य से प्रमाणित करते हैं—मुमुक्षवोपीति—पुण्यशाली जनों का राग भी अन्त में वैराग्य रूप में परिणत होकर मोक्षजनक हो जाता है। ये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ही शास्त्रों में पुरुषार्थ कहे गये हैं। किस शास्त्र के मत में कौन परम पुरुषार्थ है यह यहाँ बताया गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये ही चार परम पुरुषार्थ माने गए हैं। पञ्चदेवेति—ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, सूर्य और शक्ति ये पाँच देवता माने हैं। कीर्तीति—काव्य से वाल्मीकि, व्यासादि की कीर्ति हुई। प्रीतीति—और प्रीति सहृदयों को दी। यही बात 'काव्य यशसे' इस कारिका से काव्यप्रकाश में मम्मट ने दिखलाई है॥६॥

(काव्य-निर्माण-समय)

कविसंकेत-युक्तेन कविना कीर्तिमीप्सुना ।
मनः प्रसत्तौ कर्तव्यं काव्यमित्याह वाग्भटः ॥७॥

कविसंकेतश्च त्रिविधः । यदाह शौद्धोदनिः—

असतोऽपि निबन्धेन सतामप्यनिबन्धनात् ।
नियमस्य पुरस्कारात्सम्प्रदायस्त्रिधा कवेः ॥

अयमर्थः—वस्त्वन्यथा यन्न भवति तदपि कविभिर्निबध्यते यथा—मुखे चन्द्रत्वकमलत्वादिकम् । किञ्चित्सारमप्यविरुद्धमपि न निबध्यते । यथा—वसन्ते मालती पुष्पम् । नियमाख्यानम्—

शूली न सर्पी गिरिशः शशी न हरिणी विधुः ।
इन्दुमौलिर्महादेवो गङ्गामौलिर्न तु क्वचित् ॥

नैषधेऽप्युक्तम्—'महत्वं प्रभुत्वं व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगे कविलोक एव । शशोऽयमस्यास्ति शशी ततोऽयमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्त' ॥ तथ्यतरं चैतत्प्रसोमः ।

कवीनां घटनान्यैव चराचर-विलक्षणा ।
अपर्तुमन्यथा कर्तुं कर्तुं वा क्षमते जगत् ॥
अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते ॥

मनःप्रसत्तिर्मनसो खेदोऽपि न शोकस्य परा प्रसन्नतेति यावत् ॥७॥

काव्य किस समय और किस प्रयोजन को लेकर बनाना चाहिए इस विषय को स्पष्ट करने के लिये काव्य का निर्माण-काल बतलाते हैं—कविसंकेतेति—कवियों की कीर्ति चाहनेवाले ने कवियों के संकेतों को जान कर 'मन की प्रसन्नता के समय काव्य बनाना चाहिये'—ऐसा कहा है। कवि-संकेत तीन प्रकार का होता है। असद्वस्तु का निबन्धन, जैसे मुख में चन्द्रादि का आरोप। कहीं पर सद्वस्तु का भी असत्व

दिखलाना, जैसे वसन्त मे मालती (चमेली) पुष्पो का न होना दिखलाना और चन्दन के वृक्ष मे फल और पुष्पो का दिखाना आदि। नियम का पालन करना जैसे—शूलीति—महादेव शूली त्रिशूलधारी कहलाते हैं, न कि सर्पी। चन्द्रमा शशी कहलाते हैं, न कि हरिणी। इसी प्रकार शकर इन्दुमौली तो कहे जाते हैं, न कि गङ्गामौलि। नैषध मे भी यही कहा है कि पद के प्रयोग करने मे कवियो का वचन ही प्रमाण है न कि व्याकरण, क्योकि व्याकरण से तो शशी के समान मृगी भी शुद्ध हो सकता है, परन्तु मृगी कवियो से प्रयुक्त नही होता। ठीक है—कवियो की घटना ससार से विलक्षण है, वे जैसा चाहते हैं वैसा ही होता है। ब्रह्मा की सृष्टि प्राय: दुःखबहुला है परन्तु कवि की सृष्टि केवल आनन्दमयी ही है ॥७॥

(काव्ये व्युत्पत्तिशक्ति अभ्यासाना कारणत्वम्)

तस्य काव्यस्य निर्माणे समुल्लासे प्रचारणे ।
व्युत्पत्तिः शक्तिरभ्यासः त्रयं हेतुर्न हेतवः ॥८॥

अत्र हेतुपद काव्योत्पादप्रयोजकतावच्छेदक-समुदायत्वावच्छिन्न-परम्। प्रयोजकता च व्युत्पत्तिशक्त्यभ्यासात्मके समुदाये वर्तते। अर्थात्—काव्यस्य रचने समुत्कृष्टत्वे प्रसिद्धौ च व्युत्पत्त्यादित्रयं दण्डचक्रादिन्यायेन हेतुर्न तृणारणिमणिन्यायेन हेतवः। तत्र व्युत्पत्तिर्बोधः। शक्ति. कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः। सैव प्रतिभोच्यते। या विना काव्य न प्रसरेत्प्रसृतं वोपहासाय। उक्तं चान्यत्र—'द्वे वर्त्मनी गिरो देव्याः शास्त्र च कविकर्म च। प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम्॥ अभ्यासः पुनः पुनर्गद्यपद्यरचनम्। एतत् त्रय मिलितमेव काव्यनिष्ठकार्यता निरूपित-कारणतावच्छेदकम्। अनुपहसनीय-काव्यत्वावच्छिन्न-काव्यनिष्ठ-कार्यता-निरूपित-कारणतायाः त्रिष्वेव सत्त्वात्। यत्तु—तैलङ्गपुङ्गवो रसगङ्गाधर-कारः काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिरूपां कविगता प्रतिभामेव केवला काव्यस्य कारणमाह—तन्न। "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू" रिति श्रुति-

प्रतिकूलत्वान्मम्मटादि—सकल प्रावामर्वाचा च ग्रन्थैर्विरुद्धत्वाच्च । स्व-यम्भू—स्वत सिद्धशक्तिमान्, परिभू—सर्वार्थज्ञानवान्, मनीषी—मननशील, कवि—काव्यकर्ता भवतीति श्रुत्यर्थं ॥ अत्रेद महाकवि-नीलकण्ठोक्तमपि बोध्यम् । 'स्तोनु प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वर हि न शाब्दिक प्राह न तार्किकं वा । श्रूते तु तावत्कविरित्यमोऽस्य काष्ठापरा सा कविता ततो नः ॥८॥

काव्य निर्माण करने में तीनों की तुल्यकारणता बतलाते हैं—सकलेति—सकल पुरुषार्थ (धर्मार्थ, काम, मोक्ष) के साधन में समर्थ जो काव्य उसके प्रादुर्भाव में व्युत्पत्ति=बोध, शक्ति=संस्कारविशेष, और अभ्यास, ये तीनों मिलकर ही कारण हैं, न कि पृथक् पृथक् । यही बात कारिका से कहते हैं—सम्येति । अत्रेति—यहाँ कारिका में हेतुपद, काव्य की उत्पत्ति में प्रयोजकतावच्छेदक जो समुदायत्व तदवच्छिन्न (त्रय) परक है अर्थात् दण्डचक्रादि न्याय से सम्मिलित हेतु है न कि तृणारणिमणि-न्याय से । व्युत्पत्ति अर्थात् बोध, शक्ति 'कविता करने का बीज' शक्ति ही प्रतिभा कहलाती है, जिसके बिना कृतकाव्य प्रसृत और प्रशसित नहीं होता। द्वे इति । वाणी के दो ही मार्ग हैं—शास्त्र और काव्य। इनमें शास्त्र बुद्धिगम्य है और काव्य प्रतिभागम्य। अभ्यास=गुरूपदिष्ट रीति से गद्य-काव्य या पद्य-काव्य का निर्माण करना। ये तीनों मिलित ही काव्य-कारण होते हैं। रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ न काव्य घटना-नुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थितिरूप प्रतिभा को ही केवल काव्य की उत्पत्ति में कारण माना है। परन्तु यह ठीक नहीं, इसमें—'कविर्मनीषी' इस श्रुति और मम्मटादि के ग्रन्थों से विरोध आता है। अब पूर्वोक्त श्रुति की स्वानुकूल व्याख्या करते हैं—स्वयम्भूरिति—स्वत सिद्ध शक्तिमान् को स्वयम्भू कहते हैं, सर्वार्थ-सर्वविध-ज्ञानवान् को परिभू, और सर्वविषयक-मननशील को मनीषी, एव युक्त-विशेषणविशिष्ट कवि ही काव्यकर्ता हो सकता है। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि शक्ति आदि तीनों ही मिलकर कविकर्म (काव्य) को बना सकते हैं, न केवल प्रतिभा।

श्रुति ईश्वर को न तो वैयाकरण कहती है और न तार्किक, पद-पद मे यदि कहकर पुकारती है, इसलिये कविता ईश्वर की परा विभूति है ।।८।।

(व्युत्पत्ति-लक्षणम्)

छन्दो व्याकरणज्ञत्वं, कला कोष-प्रवीणताम् ।
युक्तायुक्त-विवेकं च व्युत्पत्तावाह रुद्रटः ।।९।।

छन्दः—पिङ्गलादिसूत्रम् । तच्च द्विविधं वैदिकं लौकिकं च । वैदिक छन्दांसि वेदेषु, लौकिक छन्दांसि रामायणादिषूपयुज्यन्ते । 'पादपद्वयं छन्द' इति सिद्धान्तशिरोमणौ—भास्करोक्तेः छन्दस षडङ्गेषु पादस्था-नीयता । तथा च पादाभ्यां रहितस्य मानवस्य यथा दुरवस्था जायते तथानेन विना शास्त्रस्येति बोध्यम् । व्याकरणं=पाणिनीयादि । तस्य प्रयोजनमाह वामनः 'शब्दस्मृतेः शब्दशुद्धिरिति' । कलाः—नृत्यगीत-वाद्यप्रभृतयः चतुःषष्टिसंख्याकाः शैवशास्त्रे कामशास्त्रे च प्रसिद्धाः । कोषोऽमरसिंहादि-प्रणीतः परस्पराकाङ्क्षारहितः श्लोकसमूहः । तस्यापि प्रयोजनं वामन एवाह—'अभिधानकोशतः पदार्थनिर्णय इति । युक्तायुक्त-विवेके युक्तमेव निबध्यमानं कविव्युत्पत्तेरुत्कर्षं पुष्णाति । अयुक्तत्वप-कर्षम् । यदाह रत्नकण्ठः—'एकः श्लोकवरो विवेकरचितो हृद्यः सतां सत्कवेर्नेष्टः कुकवेर्विवेकरहित कृत्स्नः प्रबन्धोऽपि वा ।।९।।

अब ग्रन्थकार अपनी तरफ से व्युत्पत्यादि का लक्षण करके अन्यों के भी लक्षण दिखाते हैं छात्रों की बुद्धि-वर्धनार्थ । रुद्रट आदि आचार्यों के व्युत्पत्ति आदि के लक्षण ये है—छन्द इति—आचार्य रुद्रट कहते हैं कि व्युत्पत्ति मे छन्द और व्याकरण का ज्ञान, ६४ कला और कोष की निपुणता, योग्यायोग्य विचार, ये सब अवश्यमेव होने चाहियें । छन्द दो प्रकार के होते हैं— वैदिक और लौकिक । वैदिक छन्दो का उपयोग वेद मन्त्रो मे, और लौकिक छन्दो का उपयोग रामायण, महा-भारत, पुराण, काव्यादि में होता है । 'पादपद्वय छन्दः—छन्द वेदो के पादस्थानीय हैं । इस सिद्धात-शिरोमणि के अनुसार छन्द शास्त्र वेदो

का चरण है। जैसे चरण रहित पुरुष की दुर्गति होती है उसी प्रकार वेद भी छन्द के बिना पंगु हैं। व्याकरण का प्रयोजन वामन कहते हैं—'शब्द का शुद्धाशुद्ध ज्ञान व्याकरण से होता है। नाचना, गाना, बजाना आदि ६४ कलाएँ शैव-शास्त्र और काम-शास्त्र में बतलाई हैं। परस्पर में आकांक्षा रहित पदसमुदाय कोश होता है। जैसे—अमरकोश, मेदिनी, यादव, हारावली, वैजयन्त्यादि। कोश का प्रयोजन भी आचार्य वामन ही बतलाते हैं—अभिधान कोश आदि से पदार्थ का निर्णय होता है। युक्त और अयुक्त के विचार में युक्त ही कवि की व्युत्पत्ति का उत्कर्ष बतलाता है और अयुक्त अपकर्ष। जैसाकि रत्नकण्ठ कहते हैं—विचार-पूर्वक निर्माण किया हुआ एक भी श्लोक सकल सहृदयों के मन को मुग्ध कर देता है। विचारहीन समस्त काव्य भी अनुपयुक्त है ॥९॥

(शक्त्यभ्यासयोर्लक्षणम्)

शक्तिं निपुणतां लोकशास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञ-शिक्षयाभ्यासं हेतुं तत्राह मम्मटः ॥१०॥

तत्रेति=काव्योत्पत्तित्वावच्छिन्नं प्रतीत्यर्थः। हेतुमसाधारणकारणम्। 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः' इति न्यायसूत्रे पदार्थ इत्यनेकवचनेन यथा त्रितयैकपदार्थत्वम्, तथात्र परस्परसापेक्षाणामेव हेतुत्वं लभ्यते न तु व्यस्तानाम्। शक्तिरुक्ता। कार्यानुकूल-कारणनिष्ठ-सामर्थ्यं वात्र शक्तिः। अनुकूलत्वं च संसर्गः। फलनिष्ठ जन्यतानिरूपित-जनकत्वम्। लोक'=स्थावर-जङ्गमात्मक लोकवृत्त, योगादुपचाराद्वा। शास्त्यनेनेति शास्त्रमिति व्युत्पत्त्या शास्त्रं श्रुति-स्मृति-पुराणादिकम्। यदुक्तं भट्टपादैः 'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते। तत्र नित्येन=श्रुत्यादिना, कृतकेन=पुराणादिना, प्रवृत्तिः 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत, सत्यं वदेत्यादि श्रुत्या सन्ध्यावन्दन-सत्यभाषणादौ। निवृत्ति —'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्,' समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदतीत्यादि श्रुत्या चौर्यानृत-भाषणादौ। यद्वा प्रवृत्तिः पुराण-

मुपदेशेन विप्रशापासनादि—रामादिकार्येषु, निवृत्तिः—परस्त्रीहरणादि—रावणादि-कार्येषु । लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म काव्यम् । यत्रेदमुच्यते 'किं कवेस्तेन काव्येन काण्डेनेव धनुष्मतः । परस्य हृदये लग्नं यन्न घूर्णयते शिरः ॥ आदिपदादितिहासो रामायण-महाभारतादिः । अवेक्षणं=मः पुनरनुसन्धानं तज्जन्या निपुणता व्युत्पत्तिरप्युक्तैव । काव्यज्ञशिक्षया काव्यकरणाभ्यासः । यदाहुर्बुधाः "अनारतं गुरूपान्ते यः काव्ये रचनादरः । तमभ्यासं विदुः । अयमेवाशयः 'श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहमि'ति दण्डिना ध्वनितः ॥ १०॥

अब मम्मट-सम्मत शक्त्यादि का लक्षण करते हैं—शक्तिमिति—काव्योत्पत्ति में मम्मटाचार्य तीन हेतु बतलाते हैं—एक शक्ति, दूसरा लोकशास्त्र-काव्यादि से जायमान निपुणता, तीसरा काव्य-कोविदों की शिक्षा से उत्पन्न अभ्यास । हेतु शब्द यहाँ असाधारण कारण का बोधक है । जैसे जात्याकृति सूत्र में जात्यादि तीनों मिलकर एक पदार्थ का बोधन करती हैं, वैसे ही शक्ति आदि तीनों मिलकर ही काव्य-कारण हैं; पृथक्-पृथक् नहीं । कार्यानुकूल कारण में होनेवाला सामर्थ्य ही शक्ति है । अनुकूलता क्या है ? यह बतलाते हैं—अनुकूलत्वं चेति—अनुकूलता यहाँ समर्ग-ग्राह्य है । फलनिष्ठ जो जन्यता=कार्यता तन्निरूपित जनकत्व=कारणत्व रूप । लोक पद से यहाँ लोकवृत्त लेना चाहिये । शास्त्रपदबोध्य श्रुति (वेद) और स्मृति (धर्मशास्त्र) आदि हैं । जैसा-कि भट्टपाद (कुमारिल) ने कहा है । प्रवृत्तिर्वेति—जिसके द्वारा पुरुषों की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति बतलाई जावे, श्रुति आदि से अथवा पुराणों से, वह शास्त्र कहलाता है । प्रवृत्ति=प्रतिदिन सन्ध्यादि नित्यकर्म करना, सत्य बोलना आदि । निवृत्ति='किसी के धन को न चाहो' 'जो असत्य बोलता है वह समूल नष्ट हो जाता है' इत्यादि वाक्यों से सन्ध्या करना, सत्य बोलना आदि में प्रवृत्ति और चोरी करना, झूठ बोलना आदि से निवृत्ति मानी है क्योंकि चोरी करना और झूठ बोलना पाप है । यद्वा

अथवा प्रवृत्ति=पिता आदि की आज्ञा का पालन करना प्रभृति श्रीराम आदि के कार्यों में, और निवृत्ति=परकीय स्त्री का हरण करना आदि रावणादि कार्यों में होनी चाहिये। अलौकिक वर्णन में निपुण कवि का कर्म काव्य होता है। कवि के उस काव्य से क्या लाभ, जो धनुर्धर के बाण की तरह लगा हुआ सिर को न हिला दे। वृद्धा इति—वृद्ध पद से यहाँ वाग्भटालङ्कारकार का ग्रहण है। गुरु की सन्निधि में काव्य करने में लगे रहना अभ्यास माना है। दण्डी ने भी यही माना है ॥१०॥

(उत्तम-ध्वनिकाव्यलक्षणम्)

यत्र शब्दस्तथैवार्थौ गौणभावमुपाश्रितौ ।
कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तत्काव्यं ध्वनिरुत्तमम् ॥११॥

अर्थं=व्यङ्ग्यार्थम्, कमपीति। चमत्कारजनकम्, ध्वन्यमानार्थस्य चमत्कारसारत्वात्। तेनातिगूढ-स्फुट-व्यङ्ग्ययोर्निरासः। तदुत्तमं काव्यं ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिरित्युच्यते। न च रमणीयेष्वलङ्कारादिष्वेव ध्वनेरन्तर्भावोऽस्त्विति वाच्यम्। वाचकतावच्छेदक व्यञ्जकतावच्छेदकत्वयोर्भिन्ननिष्ठत्वात्। ध्वनिकारमते-एतदतिरिक्तं काव्यमेव न, यतो हि नहि कवेरिति वृत्तमात्रनिबन्धनेन कवित्वपदलाभः पुराणेतिहासादेरेव तत्सिद्धेः। यत्तु रसगङ्गाधरकारेण-व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यां ध्वनेर्भेदद्वयं स्वीकृतम् तच्चिन्त्यम्। व्यङ्ग्यप्राधान्य एव ध्वनित्वाङ्गीकारात्। यतो हि—चमत्कारोत्कर्षनिबन्धन एव व्यङ्ग्ये प्राधान्यविवक्षा, अन्यथा ध्वनिकारादि प्राचामाचार्याणां सर्वेषां विरोधः। यदि तु तत्सर्वेतसेतुं निर्मिद्य स्वतन्त्रं गम्यते, तदान्ये प्येवंविधा बहुभेदा भवितुमर्हन्तीत्यनवस्थापातः।

उदाहरणं ममैव—

गुरुमध्यगता सीता लीलाकमलनाडिता ।
नतभ्रू राममालोक्य मन्दमन्दमघूर्णत ॥

क्रिया-विशेषणानां कर्मत्वमिति भाष्योक्तेर्मन्दमन्दमिति द्वितीयान्तं, 'प्रकारे गुणवचनस्ये'ति द्विर्भावः। अघूर्णतेत्यनेनाऽसमीक्ष्यकारिन्! किमिद-

मनुचितं कृतवानसीत्यर्थसवलिताऽमर्षश्चर्वणा विश्रामधामत्वात्प्राधान्येन व्यज्यते। शब्दोऽर्थश्च तत्र गौण.। अत्र-रसगङ्गाधरकारेणोदाहृते—'गुरु-मध्यगतामयानताङ्गी' ति पद्ये ‖ नताङ्गीपदे च्युतसस्कृतिदोष । 'अङ्गगात्र-कण्ठेभ्य' इति वृत्तिमतस्य भाष्यानुक्तत्वेनाप्रमाणत्वात् । अतएव 'सुगात्री' त्यादयोऽप्यभ्रशा एवेति शेखरकारोक्ति सगच्छते ॥११॥

अब काव्य के भेद कहे जाते हैं। यत्रेति—जहाँ शब्द और अर्थ अपने को गुणीभूत करके किसी चमत्कारजनक अर्थ को अभिव्यक्त (ध्वनित) करें वह वाच्य-ध्वनि काव्य कहलाता है अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति मे शब्द और अर्थ दोनो ही कारण होते हैं । ध्वनिपद में जब अधिकरणार्थक प्रत्यय मानते हैं, तब यह उत्तम काव्य का वाचक हो जाता है। करणप्रधान मानने पर 'ध्वन्य-तेऽनयेति ध्वनि' व्यञ्जनाशक्ति का बोधक होता है और 'ध्वन्यते इति ध्वनि' इस व्युत्पत्ति से रसादि व्यङ्ग्य का अभिव्यञ्जन करने से अति गूढ और स्फुट व्यङ्ग्यो का निवारण हो गया। नचेति—व्यङ्ग्य-व्यञ्जकरूप ध्वनि का वाच्य वाचक रूप अलकारो मे अन्तर्भाव हो ही नही सकता। अब काव्य-पुरुषावतार ध्वनिकार का मत दिखलाते हैं। ध्वनिकारेति। ध्वनिकार के मत मे ध्वनि काव्य ही सर्वश्रेष्ठ है। इतिवृत्त (किसी की कथा) निबन्धन मात्र से कोई महाकवि नही कहला सकता, अर्थात् कोई पुरुष कुछ लिख दे तो वह सभी काव्य नही होता क्योकि पुरानी कथाओ का उल्लेख-मात्र ही काव्य का प्रयोजन नही, वह तो पुराणादि से ही सिद्ध है। रस-गगेति—जो रसगङ्गाधरकार ने ध्वनि के दो भेद माने हैं—उत्तम और उत्तमोत्तम, वे व्यर्थ हैं। उत्तम व्यङ्ग्य मे होने से ही ध्वनि-काव्य होता है अन्यथा अनवस्था दोष हो जायेगा।

अब सर्वश्रेष्ठ ध्वनि काव्य का उदाहरण देते हैं—गुरुमध्यगतेति—गुरु (श्वश्रू) आदि के मध्य मे बैठी हुई, श्रीराम द्वारा लीला-कमल से ताडित सीता नीचे भृकुटि चढाकर मन्द-मन्द घूर्णन करने (देखने) लगी। हे असमीक्ष्यकारिन्! यह क्या किया! इससे अमर्ष (क्रोध)

व्यक्त हुआ । शब्द और अर्थ यहाँ गौण हैं । अर्थात् अमर्ष रूप व्यङ्ग्य की यहाँ प्रधानता हुई, शब्द और अर्थ की गौणता ॥११॥

(मध्यमगुणीभूतकाव्यलक्षणम्)

यत्र वाच्यचमत्कारो व्यङ्ग्यार्थापेक्षया पुनः ।
तद्वदन्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यं काव्यन्तु मध्यमम् ॥१२॥

वाच्ये—व्यङ्ग्यापेक्षया चमत्कारिणि सति मध्यमं काव्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्यभिधीयते । यथोक्तं ध्वन्यालोके—'यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् । प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ॥ यत्र वस्त्वलंकाररसादिरूपव्यङ्ग्यानि प्रधानरसे गौणानि भवन्ति । तत्र प्रधानरसकारणतयोत्तम-काव्यत्वव्यपदेशः । यथोक्त ध्वन्यालोक एव । 'प्रकारोऽयं गुणीभूत-व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् । धत्ते रसादि-तात्पर्य-पर्यालोचनया पुनः ॥'

गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भेदाः प्रकाशकृता-दर्पणकृता च प्रदर्शिता उदाहृताश्च । ते तत्रैव कर्णेहत्य निरीक्षणीयाः । न च ध्वनिगुणीभूत-व्यङ्ग्यादिशब्दा ध्वनिकारात्प्राचीनैः कैरपि भामहादिभिः स्वनिबन्धेषु नोक्ता इति न मन्तव्या इति वाच्यम् । समासोक्त्याक्षेपाद्यलङ्कारनिरूपणेनैव संस्तवनिरूपणात् । ध्वन्यादि शब्दैस्तदनुल्लेखेऽपि भङ्ग्यन्तरेण तदुल्लेखनात् । दिङ्मात्रमुदाहरणम्—

वानीरकुञ्जोड्डीन-शकुनि-कोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया गोप्याः सीदन्त्यङ्गानि ॥

अत्र दत्तसंकेतः श्रीकृष्णो लतागृहं प्रविष्टः । अहन्तु गृहकर्मव्यापृततया तत्र न गन्तुमशक्नुवमिति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम् ॥१२॥

उत्तम काव्य का निरूपण करके अब मध्यम काव्य का निरूपण करते हैं—यत्रेति । जिस काव्य में वाच्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक हो, उसे मध्यम काव्य गुणीभूत-व्यङ्ग्य कहते हैं । जहाँ

वस्तु अलंकार तथा रसादि रूप व्यङ्ग्य प्रधान रस में गौण हो जायें वहाँ प्रधान रस गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य भी फिर ध्वनि के कारण उत्तम काव्य हो जाता है। जैसाकि ध्वन्यालोक मे लिखा है—प्रकारोऽयमिति। गुणीभूत व्यङ्ग्य प्रकार भी रसादि की सत्ता से ध्वनिरूपता को धारण कर लेता है। गुणीभूत व्यङ्ग्य के अन्य ग्रन्थों मे कहे हुए भेद बतलाते हैं। *गुणीभूतेति*—गुणीभूतव्यङ्ग्य के आठ भेद काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पणकार ने किये है वे वहीं देखना। यद्यपि ध्वन्यादि नाम से प्राचीनाचार्य भामहादि ने इनका कही पर भी उल्लेख नहीं किया तथापि समासोक्त्यादि द्वारा प्रकारान्तर से निरूपण किया है। उदाहरण—वानीरेति बानीर (वेतस) कुञ्ज से उड़े हुए पक्षियों का शब्द सुनकर गृहकर्म में लगी हुई गोपी श्रीकृष्ण के समीप जाने मे असमर्थ होकर एकदम शून्य हो गई ॥१२॥

(अथमचित्रकाव्यलक्षणम्)

शब्दार्थयोः चमत्कारः परस्परमपेक्षया ।
प्रधानं यत्र तज्ज्ञेयमधमं चित्रसंज्ञकम् ॥१३॥

यत्रार्थापेक्षया शब्दस्य शब्दापेक्षया चार्थस्य चमत्कारः प्रधानमधिकः तद्—द्विविधं चमत्कृतिहेतु व्यङ्ग्यरहितं काव्यं चित्रशब्दम्। एतद्द्वयं ध्वन्यालोकानुसारमेव। यदुक्तं तत्र-'चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्। तत्र किंचिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्॥ तत्र शब्दचित्रं यथा मम—

'प्रचण्डदैत्यदोर्दण्ड - मदखण्डनहेतवे ।
नमो भक्ताप्रस्कायै रम्भा स्तम्भाय शम्भवे ॥

शम्भवे—'शम्भुरीशः पशुपति'रित्यमरात् शिवाय, 'स्वयम्भूः शंभुरादित्यः' इति नामसहस्रात् विष्णवे वा नमोऽस्त्विति शेषः। उत्कृष्टापेक्षास्वनिष्ठापकृष्टत्वबोधनं नमःशब्दार्थः 'नमः स्वस्ती'ति पाणिनिसूत्रेण चतुर्थी। 'श्रीगणेशं नमस्कृत्ये'त्यादौ तु नमःशब्दयोगेऽपि न सा द्वितीयया

कारकविभक्तित्वेन बलीयस्याबाधात्। अर्थवतो नञ शब्दस्यैव सूत्रे ग्रहणमिति भाष्योक्तेश्च। शिवपक्षे प्रचण्डदैत्याः त्रिपुरान्धकादयः विष्णुपक्षे हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपुमधुकैटभादयः तेषां दोर्दण्डमदस्य खण्डनहेतवे। भक्ता एवाम्रवृक्षा इति मयूरव्यंसकादिसमासो रूपकं च तेषां रक्षायै 'क्रियार्थोपपदस्य कर्मणि स्थानिन' इत्यनेन चतुर्थी। रम्भास्तम्भयोरुभयत्र तुल्यम्। रम्भास्तम्भेनाम्रवृक्षरक्षणं भवतीति लोकप्रसिद्धिः, अत्रोदाहरणे शब्दचमत्कृतावर्थचमत्कृतिः लीना॥

अर्थचित्र यथा ममैव—

'सुधाधवलितात्यन्त-विशालाकाशशालिका।
चन्द्रमूर्तिरिवाभाति देहली-सौधमालिका॥

सौधमालिकापक्षे—सुधया=कलीतिलेपनद्रव्येण धवलिता लिप्ता, अत्यन्तविशाला=विस्तृता, आकाशस्य शालेवशालिका, गृहमिवोच्चत्वात्। चन्द्रमूर्तिपक्षे सुधाधवलिताऽमृतयुक्ता। 'सुधालेपोऽमृतं सुधेत्यनुशासनात्'। 'पाताल स्त्रीमुखं नाकः सागरश्च सुधाकरः। एतान्यमृतधामानि प्रवदन्ति मनीषिणः॥ इति मदीये दुर्गाभ्युदये द्रष्टव्यम्। अत्यन्त-विशाले महत्याकाशे शालते शोभत इति शोभाशालिनीत्यर्थः। अत्र शब्दचमत्कृतिरर्थचमत्कृतौ लीना॥ एते सर्वेऽपि काव्यप्रभेदाध्वनिकृतापि मताः। यदुक्तं तेन 'प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते। उभे काव्ये ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते॥ व्यङ्ग्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनि'। गुणीभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यम्। ततः काव्यद्वयादन्यत् रसभावादिरहितं चित्रकाव्यमिति विवक्षितोऽर्थः। यदुक्तं तेनैव 'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति। अलङ्कारनिबन्धो य सचित्रविषयो मतः॥ प्राथमिकानामभ्यासार्थिना कृते चित्रकाव्यमस्तीति ध्वनिकाराशयः। एतेन चित्रकाव्यं सर्वथा नास्त्येवेति तदाशयं वदन् दर्पणकारः स्थूलदृष्टिरेव॥१३॥

शब्दार्थयोरिति—जहाँ अर्थ की अपेक्षा शब्द का और शब्द की अपेक्षा अर्थ का चमत्कार प्रधान है वहाँ क्रम से शब्दचित्र अर्थचित्र दो काव्य

ध्वनिकार के अनुसार माने जाते हैं। शब्दचित्र का उदाहरण—प्रचण्डेति। —प्रचण्ड-प्रबल जो दैत्य=दानवों के भुजदण्ड उनके मदखण्डन के कारण, भक्तरूपी आम्रवृक्षों की रक्षा के निमित्त रम्भा=केला के स्तम्भ-रूप जो शम्भुशंकर अथवा विष्णु उसको नमस्कार हो ।। इस उदाहरण में अर्थ का जो चमत्कार है वह शब्द के चमत्कार में लीन हो गया है—अत यह काव्य शब्दचित्र है। जिसमें शब्द का वैचित्र्य हो वही शब्द-चित्र कहलाता है। उसी की प्रधानता वहाँ मानी जाती है ।।

अर्थ चित्र का उदाहरण–सुधाधवलितेति—सुधा=कली से लिपी हुई अतीव विस्तृत, आकाश के गृह के समान ऊँची, देहली नगर की गृहावली, अमृतयुक्त तथा विशाल आकाश में शोभायमान चन्द्रमूर्ति के समान दीप्त हो रही है। इस उदाहरण में शब्दचमत्कार अर्थ के चमत्कार में लीन हो गया है। अत यह काव्य अर्थचित्र नाम से व्यपदिष्ट हुआ ।।

इन सब भेदों की दृढता प्राचीन प्रमाणों से करते हैं—एते इति। ये सभी काव्यभेद ध्वन्यालोक ग्रन्थ में ध्वनिकार ने माने हैं। जैसाकि उन्होंने लिखा है–प्रधानगुणेति—जिसमें व्यङ्ग्यार्थ प्रधान हो वह ध्वनि और व्यङ्ग्यार्थ गौण हो वह गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य है। दोनों से अन्य चित्र-काव्य है। जिसमें रसभावादि न रहकर अलकारप्राधान्य होता है। अलकार भी न हो तो ग्रामीणों की साधारण कथा भी चित्र का विषय माननी पड़ेगी। दर्पणकार ने जो चित्रकाव्य का खण्डन किया है वह गलित (गलत) है ।।१३।।

(काव्यभेदा)

पुनस्तस्यैव काव्यस्य द्वैविध्यमिह दर्श्यते ।
दृश्यश्रव्यत्वभेदाद्दु काव्यव्युत्पत्तिहेतवे ।।१४।।

पुनर्मेदत्रयनिरूपणोत्तरम्। तस्येति, ध्वनिगुणीभूत-व्यङ्ग्यचित्रात्मकस्य, द्वैविध्यमिति च सख्याविप्रतिपत्तिनिरासाय। ते च द्वे विधे आह—दृश्यश्रव्येति। तत्रेदमवधेयम्—'कठिनः श्रव्यनिबन्धो दृश्यनिबन्धस्तु

भवति सुकुमारः। पुरुषमहिलानां यावदन्तरं तावदेतेषाम् ॥ भगवान् भरतोऽप्याह—'मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु रूपकम् ॥१४॥

ध्वनि-गुणीभूत व्यङ्ग्य और चित्ररूप से काव्य को त्रिधा विभक्त करके अब दृश्य और श्रव्य नामक दो भेदों में फिर विभक्त करते हैं—

पुनस्तस्यैवेति—यहाँ यह भी जानना कि श्रव्य काव्य कठिन होने चाहियें, और दृश्य काव्य (नाटक) अतीव सुकुमार=सुगम। श्रव्य और दृश्यों में उतना ही अन्तर होता है, जितना पुरुष और स्त्री में। यही बात भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में भी बतलाई है—मृदु=कोमल शब्दों से नाटक का निर्माण करना कवि का कर्तव्य है ॥१४॥

(रूपकलक्षणम्)

दृश्यं दर्शनयोग्यं तद्रूपकं रूपारोपणात् ।
अस्यैवाभिनयार्हत्वं मन्यते काव्यकोविदैः ॥१५॥

दृश्यकाव्यं नटे रामयुधिष्ठिरादि स्वरूपारोपणात् रूपकमित्यपि कथ्यते। यथोक्तं दशरूपकेऽपि—'रूपकं तत्समारोपात्' इति। 'यथा मुखादौपद्मादेरारोपो रूपकं भवेत्। तथैव नायकारोपो नटे रूपकमुच्यते ॥

दृश्यमिति—देखने के योग्य इसी दृश्यकाव्य को रूपक भी कहते हैं। क्योंकि नट=अभिनेता में नाटक के पात्र रामादि का स्वरूप आरोपित किया जाता है। नट, राम सीता लक्ष्मणादि का रूप धारण करता है। देखने वालों को 'एष रामः', 'एषा सीता' ऐसा आरोपात्मक ज्ञान होता है। इसीलिये इस काव्य को रूपक भी कहते हैं। इसी दृश्यकाव्य का अभिनय (खेल) किया जाता है। अभिनय का लक्षण और भेद बताते हैं—

(अभिनयस्य लक्षणं भेदाश्च)

रामाद्यवस्थानुकृतिर्भवत्यभिनयः स च ।
अङ्गेन वचसा वस्त्रादिभिः स्वेदादिभिस्तथा ॥१६॥

नटैरङ्गभङ्ग्या वाक्यविन्यासेन, वस्त्रालङ्कारादिभिः स्वेदरोमाञ्चादि-

सात्त्विकभावैश्च रङ्गमञ्चोपरि रामयुधिष्ठिरादीनामवस्थानुकृतिरभिनयो भवति। अत्र निरन्तरं रसोद्रेको भवति। रसाभिलाषावान् प्रेक्षकवर्गश्चात एव तद्दर्शनाय भृशमुत्सुकस्तिष्ठति। अयमेवार्थो मन्दारमरन्दे प्रोक्तः--'उत्पादयन् सहृदये रसज्ञानं निरन्तरम्। अनुकर्तृस्थितो योऽर्थोऽभिनयः सोऽभिधीयते॥ यस्य दीर्घयात्रादेः कारणविशेषेण प्रदर्शनं कर्तुं न शक्यते तत्सूच्यमपि वस्तु भवति। यथाहु —

'युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु काव्ये कविना नो सविधेयानि ॥१६॥

रामाद्यवस्थेति—रामादि की अवस्था के अनुकरण को अभिनय कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है। पहला अङ्ग (देह) से किया जाता है, दूसरा वाणी से, तीसरा भूषणवस्त्रादि से, चौथा स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावों से। नट लोग अङ्गभङ्गी से वाक्पाटव से वस्त्र और अलकारों से और स्वेदादि भावों से रङ्गमञ्च पर रामादि की अवस्था का अनुकरण करते हैं यही अभिनय है। अभिनय-काव्य में निरन्तर रस का उद्रेक होता है। इसीलिये रसिक जन दूर-दूर से उसको देखने आते हैं। आजकल सब से अच्छा अभिनय सिनेमागृहों में दिखाया जाता है। काव्य में सूच्य वस्तुएँ भी मानी गई हैं—जैसाकि दशरूपक में लिखा है—युद्धमित्यादि ॥१६॥

(रूपकस्य भेदा)

नाटकं च प्रकरणं भाणव्यायोगवीथिकाः।
प्रहासाद्याश्च विज्ञेया रूपकस्य भिदा दश ॥१७॥

भिदा इति भेदा. विद्भिदादिभ्योऽङ्। 'संख्येये ह्यादश त्रिषु' इत्यनुशासनाद् दशादिशब्दानां संख्येयमात्र-वाचितामवादो विंशत्यादीनां तु संख्यामात्र-वाचकत्वमिति। वस्तुतस्तु-सर्वेषामपि संख्यावच्छिन्नवाचकत्वमेव। अधिकं व्युत्पत्तिवादे। नाटकमग्रे दर्शयिष्यते। प्रकरणं—मालतीमाधव, मृच्छकटिकादि। भाणः—शृङ्गारतिलकादिः। व्यायोगः—उरुभङ्ग,

धनञ्जयविजय, कल्याणसौगन्धिकादिः। वीथी—विक्रमोर्वशीयादिः। प्रहासः प्रहसनम्—मत्तविलास, हास्यार्णव, लटकमेलकादि। आदिपदात्—समवकारडिमेहामृगाङ्क-परिग्रहः। तत्र समवकारो भासकृत पञ्चरात्रम्। डिमः त्रिपुरदाहः। ईहामृगः कुसुमशेखरादि। अङ्कः शर्मिष्ठाययातिरिति दर्पणकारः। एतदिदमपि बोध्यम् नाटके प्रकरणे च पञ्चभिर्न्यूना दशाधिका अङ्का न भवन्ति। बालरामायण, हनुमन्नाटकादि तु महानाटकम्। भाणवीथ्योरेक एवाङ्कः। डिमेहामृगयोः चत्वारः। समवकारे त्रयोऽधिकमन्यत्र। सर्वेषां प्रकरणादीनामनुकारात्मकत्वेनाभेदेऽपि वस्तुनेता रसश्च तेषां भेदकः॥१७॥

अब रूपक के भेद बताते हैं—नाटक चेति। ये दश नाटकादि रूपकों के भेद हैं। इन सब ही रूपकों में अनुकरणात्मकता की एकता होने पर भी वस्तुनेता और रस ही भेदक हैं। वास्तव में पारिभाषिक भेद के अतिरिक्त इनमें कोई मौलिक भेद नहीं होता। अतएव ये सभी रूपक नाम से पुकारे जाते हैं॥१७॥

(नाटकलक्षणम्)

पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं ख्यात-वृत्तं च नाटकम्।
वीरशृङ्गारशान्तानामेक एवाङ्गितां श्रयेत्॥१८॥

कथांशानामवान्तरैकप्रयोजन-संबन्धः सन्धिसामान्यलक्षणम्। मुखप्रतिमुखगर्भविमर्शोपसंहृतयः पञ्च सन्धयः। मुखप्रतिमुखगर्भाणां रत्नावल्याः प्रथमद्वितीयाङ्कयोः। विमर्शोपसंहृत्योः शाकुन्तले चतुर्थसप्तमाङ्कयोश्चोदाहरणानि। 'दूतो लेखस्तथास्वप्नो नेपथ्याकाशभाषणे। सन्ध्यन्तराणि सन्धीनां विशेषास्त्वेवमादयः॥' इति चात्र भरतमानुगुणो। ख्यात—रामायणभारतादि प्रसिद्धं वृत्तं यत्र। यथा—रामचरितानर्घराघव, प्रसन्नराघव, वेणीसंहार, शाकुन्तल, बालभारतादि। यथा वा मम दुर्गाभ्युदयम्। दशानामपि रूपकाणां कथाभेदेन भेदत्रयं सम्भवति। ऐतिहासिक पौराणिक काल्पनिकभेदात्। तत्रैतिहासिकानि—रामचरित, वेणीसंहारादीनि। पौरा-

णिकानि—पार्वतीपरिणय, कंसवध, दुर्गाभ्युदयादीनि । काल्पनिकानि—मालतीमाधव, नागानन्द, प्रबोधचन्द्रोदयप्रभृतीनि । हिन्द्यां चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्तादीन्यैतिहासिकानि । सत्यहरिश्चन्द्र, सगरविजयादीनि पौराणिकानि । कामनाप्रभृतीनि काल्पनिकानि ॥ नाटकप्रशंसामाह भरतः—'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न ताः कलाः । नासौ नयो न तत्कर्म नाटके यन्न दृश्यते ॥ अन्येऽपीह श्लोका भवन्ति । 'वेदं वेद द्विजादन्यः क आकाशमिवाद्भुतम् । नाट्यवेदो विजयते सर्वेषां रञ्जयन्मन ॥ 'अहो प्रभावो वाग्देव्या यदस्या नाट्यदर्पणे । स्वभावः सर्वलोकस्य प्रत्यक्ष इव दृश्यते ॥' कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः । कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा नाट्यनिर्माणशालिनः ॥ ॥ यानेव शब्दान्वयमुल्लपाम., 'यानेव शब्दान् वयमुल्लिखामः । तैरेव नाट्यस्थितिमात्ररम्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥ अतएव हि—'काव्येषु नाटकं रम्यम्' 'नाटकान्तं कवित्वमि'त्याद्याबालवृद्ध प्रसिद्धम् ॥१८॥

अब नाटक का लक्षण कहते हैं—पञ्चभिरिति—पाँच सन्धि=मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, उपसंहृति नामक सन्धियों से युक्त, रामायण-महाभारतादि प्रसिद्ध चरितों से पूर्ण, नाटकवृत्त होना चाहिये । जो कथानक केवल कविकल्पित है वह नाटक नहीं हो सकता । वीरश्रृङ्गार या शान्त इनमें से कोई एक रस यहाँ प्रधान रहता है । अन्य सब रस उसके अङ्गभूत होते हैं ॥ अब सन्धि का सामान्य लक्षण बतलाते हैं—कथांशानामिति—अवान्तरैक प्रयोजन वाले कथांशों का एक जगह सबन्ध सन्धि कहलाती है । भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में—सन्धि के इक्कीस भेद बताये हैं । नाटक को तीन प्रकार से विभक्त किया जा सकता है । ऐतिहासिक, पौराणिक और काल्पनिक । नाटक की प्रशंसा भरत मुनि ने की है न तज्ज्ञानमिति—वह ज्ञान नहीं, वह शिल्प नहीं, वह विद्या और वे कलाएँ नहीं, वह कर्म और वह नीति नहीं जो नाटक में न हो । ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के अतिरिक्त कोई भी वेद को नहीं जान सकता

जैसे द्विज पक्षी के अतिरिक्त कोई आकाश को नहीं जान सकता। शेष सब स्पष्ट हैं ॥१८॥

(अङ्कलक्षणम्)

यत्र प्रत्यक्षचारित्र्यं नेतू रससमन्वितम् ।
प्रसङ्गतोऽन्ते पात्राणां निर्गमः सोऽङ्क इष्यते ॥१६॥

प्रत्यक्षं=प्रत्यक्षवत्—नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवद इति-लक्षितस्य धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्तात्मकस्य, राम, भीम, वत्सराज, माधवादेश्चरितं यत्र तत्। भरतश्चाह 'प्रस्तुतार्थोपसंहारो यत्राङ्कः सोऽभिधीयते। अर्थप्रसङ्गमादाय पात्रनिर्गम इष्यते ॥१६॥

अब अङ्क का लक्षण करते हैं। प्रकृतार्थेति—जहाँ प्रकरण के सब अर्थों का उपसंहार किया जाय और अन्त में अर्थ-प्रसङ्गवश सब पात्र निकल जायें, वह अङ्क होता है। अब आमुख का लक्षण करते हैं ॥१६॥

पूर्वरङ्गस्तु पूर्वं स्यात्ततः सभ्यानुकूलता ।
कवेर्नामादिकथनं यत्र नाट्यस्य तन्मुखम् ॥२०॥

यत्रेति नाटके—सभ्यानुकूलता—विनीतवचनादिना सभ्यानामभिमुखीकरणम्। कवेर्नामादीत्यादि-पदात्कविगोत्रग्रहणम्। 'गोत्रं नाम च वन्नीयादिति भरतोक्तेः। मुखमामुखं प्रस्तावना। यथोक्तं रसार्णवसुधाकरे-'विधेयैवं सकलयो मुखता प्रतिपद्यते। नाटकादिप्रबन्धस्य तथा प्रस्तावना मता ॥२०॥

पूर्वरङ्ग इति—जिसमें पहले पूर्वरङ्ग हो फिर सभ्यों की अनुकूलता और कवि के नामादि का कथन, वह आमुख कहलाता है ॥२०॥

(पूर्वरङ्गलक्षणम्)

रङ्गविघ्नोपशान्त्यर्थं नाटकीयस्य वस्तुनः ।
नटा यं कुर्वते पूर्वं पूर्वरङ्गः स कथ्यते ॥२१॥

वाक्यार्थाभिनयो नाट्यं, तत्कारिषु नटव्यपदेशः। तत्र 'नट अवस्यन्द-

ने' इति नटेः किंचिच्चलनार्थत्वात्सात्विकबाहुल्यम् । नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वादाङ्गिकाभिनयबाहुल्यं तत्कारिषु नर्तकव्यपदेशः । गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽपि पदार्थाभिनयकर्तुर्नर्तकादन्य एव वाक्यार्थाभिनयकर्ता नट इति विवेक । नाटकीयस्य वस्तुनोऽभिनयारम्भात्पूर्वं रङ्गे नाट्यशालायां सम्भाव्यमानो यो विघ्नः तस्य शान्त्यर्थं य कुर्वन्ति नटाः स पूर्वरङ्गः । नाट्यवस्तूपोद्‌घात इति यावत् । उपोद्‌घातत्व च प्रकृतसिद्ध्यनुकूलचिन्ताविषयत्वम् । अत्रेदमपि बोध्यम्—भारतीय-नाट्यशास्त्रानुसारमेकैव नाट्यशाला विकृष्ट-चतुरस्र-त्र्यस्रभेदेन त्रिधा विभज्यते । विकृष्टा—विदुषां राज्ञां धनिकानां,चतुरस्रा सर्वसाधारणजनतायाः, त्र्यस्रा-स्वकीयकार्यकारिणां च कृतेऽभवत् । नाट्यशालायाः पश्चाद्भागे यवनिका भवति । अस्या रूपरेखा नाटकीयरसानुसारं परिवर्तते । तद्यथा—शृङ्गाराय श्यामा, करुणाय चित्रा, हास्याय श्वेता, अद्भुताय पीता, वीराय कपिशा, रौद्राय रक्ता, भयानकाय कृष्णा, बीभत्साय नीलेति। ऋग्वेदानुसारं नाटकस्य त्रीणि मूलानि गीतकाव्य, आख्यान, कथोपकथनकाव्यानि । नाटकोत्पत्त्यारम्भस्थानं च सर्वप्रथमं भारतवर्षमेव मन्यते भारतीयविद्वद्भिः मैक्डानल, कीथ, प्रभृतिभिर्यूरोपीयविद्वद्भिरप्येतत्स्वीकृतम् ॥२१॥

अब पूर्वरङ्ग का लक्षण करते हैं । रङ्गविघ्नेति—नाटकीय वस्तु के पूर्व रङ्ग (नाट्यशाला) के विघ्नों को दूर करने के लिए नट लोग जो कुछ करते हैं वही पूर्वरङ्ग कहलाता है । अब नट और नर्तक में भेद दिखलाते हैं । यद्यपि नट और नृत् धातु का गात्रविक्षेप अर्थ समान है तथापि दोनों का यह भेद बिलकुल स्पष्ट है । पदार्थ का अभिनयकर्ता नर्तक और वाक्यार्थ (काव्य) का अभिनयकर्ता नट होता है । यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि नाट्यशास्त्र के अनुसार पहले एक ही नाट्यशाला मे तीन प्रकार का विभाग होता था ।एक तरफ उसमे विद्वज्जन, राजा लोग और धनिक बैठते थे । दूसरी तरफ साधारण लोग । तीसरी तरफ अपने कर्मचारी लोग । उसके पीछे के भाग मे जवनिका (पर्दा) होता है ।

-च्छानुसार सब रसों का इसमें अभिनय होता था। पर्दे का रूप रसा-नुसार होता था। नाटक की उत्पत्ति सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही हुई॥२१॥

(नान्दीलक्षणम्)

आशीर्वादेन सहितः क्रियते यत्र संस्तवः।
गोब्राह्मणनृपादीनां सैषा नान्दी प्रकीर्तिता ॥२२॥

संस्तव इति च नमस्कारस्याप्युपलक्षणम्। तच्च स्ववोयत्वे सति पर-कीयकरवम्। यदाह कोहलः 'आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यमुखोदितः। नान्दीति कथ्यते तस्मा पदादिनियमोऽपि वा॥ अपिवेत्यनेन पदनियमा-भावो ध्वनितः। तथाह विश्वनाथः—'कंश्चिन्नान्द्या पदनियमो नाभ्युपगत इति। 'यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके। तेषामवश्यं कर्तव्या नान्दी नन्दीश्वरप्रिया॥ 'सूत्रधारः पठेन्नान्दीं' इति भरतोक्तेरिमां मङ्ग-लाचरणात्मिकां पूर्वरङ्गाङ्गभूता नान्दीं सूत्रधारः पठति। केचिदाहुः— नाटकेषु पूर्वं मङ्गलाचरणपद्यं रङ्गद्वारमेव, न नान्दी। सा तु रङ्गद्वारा-त्पूर्वमेव नटैः सम्भूय पठ्यते ग्रन्थेषु नोपनिबध्यते इति तदसत्। तत्र प्रमाणाभावात् ॥२२॥

नान्दी का लक्षण करते हैं। आशीरिति—जिसमें गौ, ब्राह्मण तथा राजादिकों की आशीर्वाद नमस्कारयुक्त स्तुति की जाय, वह नान्दी कहलाती है। और भरत मुनि के अनुसार उसको सूत्रधार ही पढ़ता है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि नाटकों में जो पहला मङ्गलाचरण का पद्य होता है वह रङ्गद्वार है, न कि नान्दी। नान्दी तो रङ्गद्वार से पहले ही नटों से पढ़ी जाती है, ग्रन्थों में उसका उल्लेख नहीं होता। यह कहना प्रमाण-शून्य है॥२२॥

(प्रस्तावनालक्षणम्)

सूत्रधारप्रभृतयः संलपन्ति परस्परम्।
प्रकृतं कार्यमादाय यत्र प्रस्तावना हि सा ॥२३॥

प्रभृतिपदेन नटीविदूषकपारिपार्श्विकादयो गृह्यन्ते। सूत्रधार-पारि-

पार्श्विको भरतेन लक्षितो । 'नाटकीय कथासूत्र' प्रथम येन सूच्यते । रङ्ग-भूमि समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥ सूत्रधारस्य पार्श्वे यः प्रवचन् कुरुते-ऽर्चनाम् । काव्यार्थसूचनालाप स भवेत्पारिपार्श्विकः ॥ प्रकृतं कार्यं = प्रस्तुत-कथामादायोद्दिश्येत्यर्थः ॥२३॥

सूत्रधारेति—जहाँ सूत्रधार, नटी, विदूषक, पारिपार्श्विक सब मिल-कर प्रकृत कार्य के सबन्ध मे वार्तालाप करें, वह प्रस्तावना कहलाती है।

भावनाम्ना सूत्रधारं कथयेत्पारिपार्श्विकः ।
सूत्रधृङ् मारिषेत्युक्त्या पारिपार्श्विकमेव वा ॥२४॥

यथा—दुर्गाभ्युदये प्रथमांके सूत्रधृद् मारिष भृणु। पारिपार्श्विकः—भाव, श्रुतपूर्वं मया ।

भावनाम्नेति—पारिपार्श्विक सूत्रधार को भाव नाम से पुकारे और सूत्रधार उसको मारिष नाम से ॥२४॥

वयस्येतिमिथो वाच्यौ नृपश्चैव विदूषकः ।
नटी च सूत्रधारश्च आर्येतिवदतां मिथः ॥२५॥

यथा—शाकुन्तले पञ्चमांके—राजा-सखे गच्छ । विदूषकः—भो वयस्य, किं तावत् ।

शाकुन्तले प्रथमांके—आर्ये कथयामि ते भूतार्थम् । नटी—सविनयम् आर्य ॥२५॥

वयस्येति—विदूषक नृप को और नृप विदूषक को वयस्य कहकर सम्बोधित करे। नटी और सूत्रधार आपस मे हे आर्य, हे आर्ये, कहकर बोलें ॥२५॥

भगवन्नितिशब्देन वाच्या देवर्षिभूसुराः ।
पितापुत्रौ तातवत्सौ देवः स्वामीतिभूपतिः ॥२६॥

यथा—दुर्गाभ्युदये प्रथमांके—राजा ऋषिं प्रति भगवन् विदितवेदि-तव्य । पितृपदं पितृभ्रातुः पुत्रपदं शिष्यानुजानामुपलक्षणम् । उदाहर-

ण्यान्येवापुत्तररामचरिते द्रष्टव्यानि । दुर्गाभ्युदये पंचमांके धूम्रलोचनः—देवः कः खलु इति ॥२६

भगवन्निति—देव, ऋषि, ब्राह्मण और संन्यासियों को भगवन् कहकर पुकारे। पिता पुत्र को वत्स कहे और पुत्र पिता को तात, राजा को सभी लोग हे देव ! हे स्वामिन् ! कहकर सबोधित करें ॥२६॥

आर्यपुत्रं पतिं पत्नी प्रियामिति सतां वदेत् ।

भद्रेति च सदा ब्रूयात् स्त्रीमात्रं पुरुषः परः ॥२७॥

यथा—शाकुन्तले सप्तमांके—हृदय, समाश्वसिहि, आर्यपुत्र एव एषः। तत्रैव–राजा प्रिये, स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि। तत्रैव तृतीयाके–राजा प्रियवदां प्रति भद्रे, साधारणोऽयं प्रणयः॥२७॥

पत्नीति—धर्मपत्नी पति को आर्यपुत्र कहकर और पति उसको प्रिये कहकर बोले। अन्य सभी पुरुष स्त्रीमात्र को भद्रे कहकर पुकार सकते हैं ॥२७॥

(विष्कम्भक-प्रवेशकयोर्लक्षणम्)

विष्कम्भको हि संप्रोक्तो भूतभाव्यर्थसूचकः ।

प्रवेशको भवत्यत्र नीचपात्रप्रयोजितः ॥२८॥

भूतभाव्यर्थसूचक —वृत्तवर्तिष्यमाण-कथानिदर्शकः। प्रवेशकोऽपि विष्कम्भक सदृशैव भवति। प्रवेशश्चास्य नीचपात्रद्वारेति विशेषः। इमौ द्वावपि विष्कम्भकप्रवेशकौ दुर्गाभ्युदयस्य द्वितीये षष्ठे चाङ्के द्रष्टव्यौ।

विष्कम्भक इति—भूत और भविष्यत्कथाओं का सूचक विष्कम्भक कहाता है। प्रवेशक भी इसी के सदृश होता है, किन्तु इसका प्रयोग नीच पात्रों के द्वारा कराया जाता है ॥२८॥

(कंचुकिविदूषकदूतानां लक्षणम्)

कंचुक्यन्तःपुरचरो हास्यकर्ता विदूषकः ।

सन्ध्यादिकार्यकुशलो दूत इत्यभिधीयते ॥२९॥

अन्तःपुरचरो वृद्धो ब्राह्मणादिः कंचुकी भवति । यथा शाकुन्तले पञ्चमाङ्कादौ—कंचुकी—अहो बत कीदृशीमवस्थामापन्नोऽस्मि । 'आचार इत्यधिकृतेन मया गृहीता या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञ इत्यादि । विदूषकोऽपि तत्रैवाङ्के—विदूषकः—भो वयस्य किं तावदस्या गीतिकाया अपि गृहीतो भवताऽक्षरार्थः राजा-सस्मितमिति । सन्ध्यादिकार्यकरणनिपुणो दूतः । यथा दुर्गाभ्युदये चतुर्थाङ्कादौ—'ततः प्रविशति देवदूतः यथा वा तत्रैव षष्ठाङ्के दूतः-पत्रमुद्घाट्य श्लोकं पठति—'भो भोः शुम्भ निशुम्भ, सन्दिशति वा सिंहस्थिता चण्डिका, स्वाराज्यं लभतां शचीपतिरयो सर्वाधिकाराःसुराः । पातालं व्रजतेत्यमद्य युवयोर्यज्जीवनाय स्पृहा, सन्देहाश्च चेत्प्रिवोद्धुमनसौ शीघ्रं समागच्छतम् ॥२९॥

कञ्चुकीति—अन्त पुर (रनिवास) मे आने-जानेवाला वृद्ध ब्राह्मण कञ्चुकी कहलाता है । जैसे शाकुन्तल के पञ्चमाङ्क के आदि मे । बात-बात मे हसानेवाला राजमित्र विदूषक कहा जाता है । सन्ध्यादि कार्य कराने मे निपुण दूत कहलाता है । साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थो मे इसके अनेक भेद दिखाये गये हैं । विस्तार भय से ग्रन्थकार ने वे नहीं दिखलाये ।

सूत्रधारः कमप्यर्थं पात्रं वादाय किंचन ।
कृत्वा प्रस्तावनां गच्छेद् वस्तूपस्थापयेत्ततः ॥३०॥

अर्थमादाय वेणीसंहारे । पात्रमादाय दुर्गाभ्युदये । गच्छेत्—निःसरेत्, ततः कविः वस्तु—इतिवृत्तम्, उपस्थापयेत्=आरभेत, वस्तु च द्विविधं मन्यते । यदुक्तमाचार्यभरतकुट्टनेन—'इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम् । गौणमुख्यविभेदेन तच्चापि द्विविधं भवेत् ॥ रामादेश्चरितं मुख्यं सुग्रीवादेस्तु गौणकम् ॥३०॥

सूत्रधार इति—सूत्रधार प्रस्तावना द्वारा किसी भी अर्थ या पात्र की सूचना देकर प्रस्तावना के अन्त मे निकल जाय । इसके बाद कवि नाट्यवस्तु का आरम्भ करे । नाट्यवस्तु के दो भेद हैं—गौण और मुख्य ॥३०॥

(नाट्योक्तय.)

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं भवेत् ।
कुर्यात्तु नाटकस्याख्यां गर्भितार्थप्रकाशिकाम् ॥३१॥

सर्वश्राव्यं यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते, यत्तु सर्वस्याश्राव्यं तत्स्वगतमिति । यथा दुर्गाभ्युदये षष्ठेऽङ्के दीर्घजानु—स्वगतम्, अहो अद्यापि शुंभस्य जयाशा । प्रकाशम्—वत्समुख इत्यादि । किंचिन्नियतश्राव्यमपि भवति । विस्तरभयात्तत्र संक्षिप्तमुदाहृतं चास्माभिः । आख्यामिति यथा रामाभ्युदयादि । यथा वा मम दुर्गाभ्युदयम् ॥३१॥

सर्वश्राव्यमिति—जो सबके सुनने योग्य है वह वस्तु प्रकाश, और न सुनने योग्य स्वगत कहलाता है । नाटक का नाम नायक के नाम से करना चाहिये—जैसे रामाभ्युदय, दुर्गाभ्युदय ॥३१॥

नामप्रकरणादीनां नायिकानायकाख्यया ।
नाटिकादेर्भवेदत्र नाम नायिकयैव हि ॥३२॥

प्रकरणादीनां यथा—मालतीमाधवादिः । नाटिकादेर्यथा—रत्नावल्यादिः ॥

नामेति—नायिका और नायक के नाम से ही प्रकरणादिकों का नाम रखना चाहिये । जैसे 'मालतीमाधव' आदि । नाटिकादि का नाम उसकी नायिका के नाम से रक्खे जैसे रत्नावली । अब काव्य-संहार और प्रशस्ति के लक्षणोदाहरण दिखलाते हैं ।

(काव्यसंहारप्रशस्त्योर्लक्षणम्)

कथ्यते काव्यसंहारः प्रदानं यद्वरस्य च ।
देवद्विजनृपादीनां प्रशस्तिः शुभशंसनम् ॥३३॥

यथा दुर्गाभ्युदये—किन्ते भूयः प्रियं करोमि । इदमस्तु भरतवाक्यम् ।

विप्राणां वदनेषु वेदभगवानास्तां समस्तादतः,
त्वत्पादाम्बुजयोः समस्तसुखयोर्निर्व्याजभक्तिर्भवेत् ।

वाग्देव्या समभस्तु वास्तुनि सतां लोकाभिरामारमा,
वृद्धि यान्तु सुखानि सन्तु मतयो धर्मे नृणां सर्वदा ॥

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद्द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वम्' इति स्मृतिलक्षण-लक्षितानां विप्राणां वदनेषु मुखेषु, भगवानैश्वर्यादिषड्गुणसंपन्नः प्रशंसायां मतुप् । वेदो जैमिनिसूत्रितो मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिः । स च न पुरुषनिर्मितः । 'वेदस्याध्ययनं नित्यं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनसामान्यादधुनाऽध्ययनं यथा ॥' इत्यादिना वेदापौरुषेयत्वस्य साधितत्वात् । 'यः कल्पः स कल्पपूर्वः इति न्यायेन संसारस्यानादित्वादीश्वरस्य च सर्वज्ञत्वादीश्वरो गतकल्पीय वेदमस्मिन् कल्पे स्मृत्वोपदिशतीत्येतावतैवोत्पत्तेर्निमितत्वकल्पनानुपपत्तेः । समस्तात्मतः समस्तैरङ्गोपाङ्गैः सहास्तां विराजताम् । सतां विदुषां सज्जनानां वा वास्तुनि गृहेरमते इति रमा लक्ष्मी , वाग्देव्या सरस्वत्या सहास्तु वसत्विति प्रार्थनाया लोट् स्पष्टमन्यत् ॥३३॥

कथ्यत इति—वर-प्रदान काव्य-संहार सभी नाटकों में होता है। देवता और ब्राह्मणादि की शुभ कामना प्रशस्ति होती है । जैसे दुर्गाभ्युदय में—विप्राणामिति—ब्राह्मणों के मुख में वेद विराजें । हे देवि, तुम्हारे चरणों में निष्कपट भक्ति होवे । विद्वानों के घरों में सरस्वती और लक्ष्मी दोनों निवास करें । सुख बढ़े और सब की धर्म में निष्ठा हो ॥

(भाषाविभागः)

संस्कृतं चैव हिन्दी च द्वे भाषे काव्यवर्त्मनः ।
संस्कृते संस्कृतकविर्हिन्द्यां हिन्दीकविर्लिखेत् ॥३४॥

अर्थात् काव्यमिति । काव्यनिर्माणाय साम्प्रतं द्वेभाषेस्त इति शेषः । अस्तिर्भवन्तीपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीतिभाष्योक्तेः । यदाह वामनश्च 'न प्रसिद्धे क्रियाध्याहारदोषः । न च 'अयः कान्ता' इत्यादौ कस्याश्चिदपि क्रियाया अध्याहारः कर्तुं न शक्यते,' वर्तमानकालिकसत्ताया भूतकालिकसत्ताया

भविष्यत्कालिकसत्ताया वा कालत्रये बाधितत्वादिति वाच्यम् । 'ज्ञायन्ते' इत्यध्याहारेण ज्ञानविषयताश्रयत्वस्य तत्र सत्त्वेनादोषात् । स तीत्यध्याहारोऽपि कर्तुं शक्यते लडुपात्तवर्तमानत्वस्याविवक्षितत्वादित्यलमप्रकृतेन। आन्तरिकविचाराणां भावानां चाभ्यान्तरिं स्पष्टतया प्रकटीकरणाय सरलसाधनं भाषा । साम्प्रतिकव्यवहारोद्देशेनाह द्वे इति । 'संस्कृतं नाम दैवीवाग्न्वाख्याता महर्षिभिरित्युक्त्या संस्कृत-देववाणी विद्वद्वाणीति यावत् । 'विद्वांसो हि देवाः' इति श्रुतेः । संस्कृतभाषा त्रिविधा—वैदिकी, पौराणिकी, साहित्यिकी च । हिन्दी हिन्दुस्थानस्य भाषा । साचापि त्रिविधा—'भाषाकविरीशान' इति हर्षचरिते बाणोक्तेः—'ईशानकालिकी, चन्द्रकालिकी संस्कृतनिष्ठाधुनिककालिकी च । सर्वोत्कृष्टा मधुरा च हिन्दीभाषा दिल्लीनगरस्य । प्राकृतभाषा तु साम्प्रतिकं कविभिर्नाटकेषु नोपयुज्यते । उदाहरणं मम दुर्गाभ्युदयम् । यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमिति भाष्योक्त्या साम्प्रतिकं सिद्धान्तस्यैवानुसरणं करिष्यन्ति कविवरा इति वयं दृढं विश्वसिम । अस्मयैषा भ्रमितव तु 'नानृषिः कुरुते काव्य'मिति देवीभागवते व्यासवचनात् ॥३४॥

अब भाषाओं का विभाग करते हैं—संस्कृत वैदेति—काव्यों के लिये अब दोही भाषाएं मानी गई हैं । एक संस्कृत दूसरी हिन्दी । संस्कृत कवि संस्कृत में और हिन्दी कवि हिन्दी में काव्य-नाटकादि लिखते हैं । अब ये दोनों ही काव्य भाषाएं हैं । प्राकृतादि का लिखना प्रचलित नहीं है ॥ प्राकृत भाषा का काव्यादि में प्रयोग बौद्धों के समय से चला था । उस समय बौद्धों की बोलचाल था । उसी का प्रयोग नाट्य आदि में भी करना पड़ा । गड्डलिका-प्रवाह-न्याय से वही बहुत समय तक चलता रहा । आन्तरिक विचारों एवं भावों के स्पष्टीकरण का सरल साधन भाषा कहलाती है । आजकल दो ही भाषाएं व्यवहृत हैं । ये दोनों तीन प्रकार ने तीन-तीन कालों में विभक्त की हैं । संस्कृत वैदिकी, पौराणिकी, साहित्यिकी, और हिन्दी-ईशानकालिक, चन्द्रकालिक तथा संस्कृतनिष्ठ सर्वाधिक व्यवहारोपयोगी, श्रेष्ठ तथा मधुर हिन्दी संस्कृतनिष्ठ मानी जाती है ॥३४॥

(श्रव्यकाव्यानि)

श्रोतव्यमात्रं श्रव्यं स्याद् गद्यपद्यमयं च तत् ।

वृत्तबन्धोज्झितं गद्यं पद्यं वृत्तैः प्रकल्पितम् ॥३५॥

श्रोतव्यमात्रम्—श्रवणमात्रविषयं न तु प्रेक्षणार्हमभिनेयं च । यदाह भोजोऽपि—'श्रव्यं तत्काव्यमाहुर्यन्नेक्ष्यते नाभिनीयते । श्रोत्रयोरेव सुखदं भवेत्तदपि सुन्दरम् ॥ वृत्तमनुष्टुबादि । दण्डीत्वाह—अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा । पद्यं पादेन संयोगात्सादो भागश्चतुष्टयः ॥ तत्र कस्यैव गद्यस्य घटकलशादिवत्पर्यायवत्कथाख्यायिकादिसंज्ञान्तरमिति नेहोक्तम् । तत्र गद्यकाव्यानि—वासवदत्ता कादम्बरी हर्षचरितं दशकुमारचरितं, शिवराजविजयं पञ्चतन्त्रं हितोपदेशादीनि । हिन्दी गद्यकाव्यानि—हिन्दीमहाभारतं प्रेमसागरं बालरामायणं प्रेमाश्रम चन्द्रकान्तादीनि । पद्यकाव्यानि द्विविधानि—महाकाव्यानि खण्डकाव्यानि च ।

अब श्रव्यकाव्यों का निरूपण करते हैं—श्रोतव्यमात्रमिति—जो केवल सुने जा सकें जिनका प्रेक्षण और अभिनय न हो सके वे गद्य और पद्य दो प्रकार के श्रव्यकाव्य होते हैं । वृत्तबन्ध से रहित काव्य गद्य काव्य और वृत्तों में लिखे गये काव्यों को पद्यकाव्य कहते हैं । जिस तरह एक ही घट के घटकलशादि अनेक नाम हैं इसी तरह गद्य के भी कथा आख्यायिकादि अनेक नाम हैं । हमने वे नहीं दिये ॥३५॥

(महाकाव्यखण्डकाव्य चम्पूकाव्यलक्षणम्)

सर्गबन्धो महाकाव्यं खण्डकाव्यं ततोऽन्यथा ।

गद्यैः पद्यैश्च संमिश्रं चम्पूकाव्यं प्रकीर्तितम् ॥३६॥

महाकाव्यं तदेवोच्यते यत्र कस्यापि महापुरुषस्य चरित्रचित्रणं पूर्णतयोपलभ्यते । तस्यैकदेशवर्णनं यत्र भवति तत्खण्डकाव्यमिति विवेकः । महाकाव्यमीशानसंहितानुसारम्—अष्टसर्गेभ्यो न न्यूनं त्रिंशत्सर्गेभ्यो नाधिकं प्रतिसर्गं भिन्नवृत्तं च । किञ्चिन्न्यूनाधिक्यमपि हरविजय वासुदेवविजयादौ विपर्यासदर्शनात् । मुक्तकादीनामत्रैवान्तर्भावः । तत्र पद्य-

महाकाव्यानि—बुद्धचरित, रघुवंश, किरातार्जुनीय, भट्टि, माघ, हरविजय, नवसाहसाङ्कचरित, विक्रमाङ्कचरित, श्रीकण्ठचरित, नैषधचरित, पृथ्वीराजविजय, सुलतानचरितादीनि । हिन्दीमहाकाव्यानि—पृथ्वीराजरासो, रामचन्द्रिका, रामचरितमानस, साकेत, कामायनीप्रभृतीनि । खण्डकाव्यानि-सर्गबन्धादि नियमरहितानि । मेघदूत, भर्तृहरिशतकत्रय, मयूरशतकामरुशतकादीनि । मम वा शतकत्रयं संस्कृतेतिहासः । हिन्दीखण्डकाव्यानि—सूरसागर, बिहारीसतसई, जयद्रथवध, पथिकादीनि । मम वा द्वादशपञ्चाशिका । चम्पूकाव्यानि—नलचम्पू, रामायणचम्पू, भारतचम्पू, वृन्दावनचम्पू, नीलकण्ठविजय, विश्वगुणादर्शप्रभृतीनि । हिन्द्या यशोधरा, विश्राधारप्रभृतीनि । काव्यस्य द्वौ परिपाकौ प्रसिद्धौ यथोक्तम्—'प्रयंगम्भीरिमा पाक स द्वेधा कविसम्मतः । द्राक्षापाको नारिकेलपाकश्च प्रस्फुटान्तरौ ॥ द्राक्षापाकस्तु विज्ञेयः स्फुरदन्तर्बहीरस । स नारिकेलपाकः स्यादन्तर्गूढरसोदय ॥ आद्यस्य—शाकुन्तलादि नाटकानि । द्वितीयस्य—किरातार्जुनीयादि-काव्यान्युदाहरणानि ॥

सर्गबन्ध इति—जिसमे सर्गो का निबन्धन हो वह महाकाव्य कहलाता है ॥ काव्य के एक देश का वर्णन जिसमे हो वह खण्डकाव्य, और जिसमे गद्य और पद्य दोनों हों वह चम्पू काव्य कहलाता है ॥ महाकाव्य मे ईशानसंहिता के अनुसार आठ सर्गो से ऊपर, और तीन सर्गो से कम सर्ग नही होने चाहियें । और प्रत्येक सर्ग मे भिन्न-भिन्न छन्द होने चाहियें । कही-कही पर इस नियम के विपरीत भी देखा जाता है । जैसे—हरविजय मे पचास सर्ग हैं, वासुदेवविजय मे चार, और सुलतानचरित मे पाँच । काव्य मे मुक्तक भेद का महाकाव्य मे ही अन्तर्भाव माना है । काव्य के दो परिपाक प्रसिद्ध हैं। शाकुन्तल, किरातार्जुनीयादि दोनों के उदाहरण हैं ।

इति साहित्यबिन्दु के प्रथमबिन्दु की हिन्दी टीका ॥

अथ द्वितीयो बिन्दुः

काव्य-शब्दार्थयोः पूर्वैर्यो विमर्शः प्रदर्शितः ।
स एवात्रातिसंक्षिप्य लिख्यते बुद्धिवृद्धये ॥१॥

काव्यशब्दार्थयोरिति काव्यलक्षणप्रविष्टशब्दार्थयोः, शब्दत्वजातिमत्त्वं शब्दस्य तदभिधेयत्वं चार्थस्य प्रसिद्धमेव लक्षणम् । सम्बन्धश्च तयोः तादात्म्यमेव, तच्च पदे वाक्ये च, यदाह न्यायभाष्यकार.—'संबन्धज्ञानार्थं चेदं पदलक्षणाया वाचो वाक्यलक्षणायाश्चेति । न च शब्दार्थयोः तादात्म्यस्वीकारे मध्वादिशब्दोच्चारणे मुखे माधुर्याद्यापत्तिरिति शङ्कनीयम्, बौद्धे मध्वाद्यर्थे माधुर्यादि शक्तिमत्त्वाभावात् । अतएव 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः, इति योगसूत्रं संगच्छते । वस्तुशून्यो बाह्यार्थ रहितः । विकल्पो बुद्धिपरिकल्पित इति तदर्थः । अतएव च—'एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः । कूर्मक्षीरचये स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः ॥ इत्यत्र वन्ध्यासुतादेर्बाह्यार्थशून्यत्वेऽपि बुद्धिपरिकल्पित वन्ध्यासुत-शब्दवाच्यार्थमादायार्थत्वात्प्रातिपदिकत्वमन्यथार्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकत्वाभावात् स्वाद्युत्पत्तिर्न स्यादित्यलं विस्तरेण । पूर्वैरिति मम्मटादिभिर्यो विमर्शो विचारः प्रादर्शि स एवेति विशेषजिज्ञासुभिस्तेषामेव ग्रन्थेषु द्रष्टव्य इति ध्वनयितुम्, अतिसंक्षिप्येत्यनेन तस्य ग्रहणधारणसुकरता प्रदर्शिता । 'समासोक्तस्य चार्थस्य सुखं ग्रहणधारणे' इत्यभियुक्तोक्तेः ॥१॥

काव्यशब्देति—अब यहाँ पूर्व आचार्यों से प्रदर्शित काव्य सबन्धी शब्द और अर्थ का विचार सक्षेप मे लिखा जाता है । शब्दत्वजातिमान् शब्द का और तदभिधेयत्व अर्थ का प्रसिद्ध लक्षण है । शब्द और अर्थ का सबन्ध तादात्म्य (भेदाघटितत्व) है । वह पद और वाक्य दोनों मे ही रहता है । दोनो का तादात्म्य संबन्ध मानने से मधु शब्द के उच्चारण होने पर मुख मे मीठापन आ जाना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होना

क्योंकि बुद्धि-कल्पित में वह शक्ति नहीं होती जैसाकि योगसूत्र में दिखलाया है। वस्तुशून्य इति—बाह्य अर्थ से रहित, विकल्प इति—अर्थात्—बुद्धि से परिकल्पित किया हुआ। इसीलिये—आकाश-पुष्पों की माला पहने हुए, मछुवे के दुग्ध में स्नान किये हुए, शश के शृङ्गों का धनुर्बाण धारण किये हुए यह वन्ध्या का पुत्र जा रहा है यहाँ पर वन्ध्यासुत आदि शब्दों का बाह्य अर्थ न होने पर भी बुद्धि-कल्पित अर्थ को मानकर प्रातिपदिक संज्ञा होने से स्वादि विभक्ति आ गई अन्यथा नहीं आती। पूर्वैरिति—मम्मटादि आचार्यों ने जो विचार शब्दार्थ के संबन्ध में दिखलाए हैं, वे ही यहाँ दिखाये गये हैं अति संक्षेप में, जिससे वे सुखपूर्वक जाने जावें ॥१॥

(शब्दभेदाः ।)

वाचकोऽथ लाक्षणिको व्यञ्जकस्त्रिविधो मतः ।
शब्दस्तदर्थो वाच्यादिः तात्पर्यं कस्यचिन्मते ॥२॥

शब्दः त्रिविधो मतस्तदुपाधीनां त्रैविध्यात्। ननु विभागादेव त्रिविधत्वे सिद्धे त्रिविधग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न। तस्य न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थत्वात्। तेषां शब्दानामर्था अपि वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः स्युः। अभिहितान्वयवादि-प्राचीननैयायिकमते तात्पर्यार्थोऽपि, न सर्वेषां मत इति कस्यचिदित्यनेन ध्वन्यते। अभिहितान्वयवादिभिर्वाक्यार्थबोधाय तात्पर्यनाम्नी वृत्तिः स्वीक्रियते। तदर्थश्च तात्पर्यार्थः। यथा—'घटं करोति' इत्यत्र घटवृत्तिकर्मत्वानुकूलाकृतिरित्यर्थो बुध्यते। तत्र घटपदस्य घटोऽर्थः। अम्प्रत्ययस्य च कर्मता, वृत्तिता तु न कस्याप्यर्थः इत्यपदार्थोऽपि वृत्तिता तात्पर्यवृत्त्या भासते। एवं 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' इत्यस्य ग्रामकर्मकगमनानुकूलकृतिमान् देवदत्त इति शाब्दबोधेऽनुकूलत्वञ्च। अर्थात्-एवमादिस्थलेषु तात्पर्यवशादाश्रयोऽप्यर्थो वाक्यात्समुल्लसति। नव्यनैयायिक-गदाधरप्रभृतयस्तु व्युत्पत्तिवादादाविमां तात्पर्यवृत्तिं ससंसर्गमर्यादाभावक्षते। अन्विताभिधानवादिमीमांसकविद्वांसस्तु—क्रियाकारकयोः प्रथमत एवा-

न्वयबोधो जायते ततः शक्तिग्रहः । पदविशेषसाहचर्यात्तु विशेषस्मरणमिति किलतात्पर्यवृत्त्यङ्गीकारेणेत्याग्रहः ॥२॥

वाचक इति—साहित्यशास्त्र में शब्द तीन प्रकार का होता है। वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक, अर्थ भी तीन ही प्रकार का होता है—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य । अभिहितान्वयवादि प्राचीन नैयायिकों के मत में वाक्यार्थ-बोध के लिये तात्पर्य नाम्नीवृत्ति भी एक मानी है। उसका अर्थ है—तात्पर्यार्थ । जैसे—'घट करोति' इस वाक्य में—'घटवृत्ति-कर्मत्वानुकूलाकृति' यह अर्थ जाना जाता है। यहाँ घटपद का तो अर्थ घट ही है, अम्प्रत्यय का कर्मत्व, वृत्तिता अर्थ किसी भी पद का नहीं है। वह केवल तात्पर्यवृत्ति से ही अवभासित होता है। इसी प्रकार 'देवदत्त ग्राम को जाता है' इस वाक्य का शाब्द-बोध होता है—ग्रामकर्मकगमनानुकूल-कृतिमान् देवदत्त, यहाँ अनुकूलत्व अर्थ भी तात्पर्यवृत्ति से ही निकलता है। गदाधरादि नव्यनैयायिक विद्वान् तात्पर्यवृत्ति को संसर्ग-मर्यादा नाम से पुकारते हैं। अन्विताभिधानवादी मीमांसक तात्पर्यवृत्ति को नहीं मानते। वे पद विशेष साहचर्य से विशेषार्थ का भान मानते हैं ॥२॥

(शब्दस्य व्यञ्जकतावदन्ययोरपि व्यञ्जकत्वम्)

सर्वेषामपि चार्थानां व्यञ्जकत्वं मतं बुधैः ।

न केवलं शब्दस्यैव व्यञ्जकत्वमपितु सर्वेषां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यानां व्यञ्जकत्वं बुधैर्मम्मटादिभिर्मतम् । तत्र वाच्यार्थस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

अवलोकय निष्पन्दो बिसिनीपत्रे बको भाति ।
निर्मलमरकतभाजन-परिस्थितो विमलशङ्ख इव ॥

अवलोकयेति विध्यर्थे लोट् । विधिश्च प्रवर्तनारूपः । प्रवर्तनात्वं च प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम् । तच्च-इष्टसाधनत्वस्याप्यस्तीतीष्ट-साधनत्वमेव विध्यर्थः । 'क्रियापि कृत्रिमं कर्मेत्यादिभाष्योक्तेः' पश्य मृगो धावतीतिवत् बकपदे न द्वितीयापत्तिः । श्रीकृष्णं प्रति गोप्याः कस्याश्चि-दुक्तिरियम् । अत्रनिष्पन्दशब्दस्यार्थेन क्रियाविरहेण बकगतमाश्वस्तत्वं

व्यज्यते । अतः संकेतस्थानमेतत् ॥ लक्ष्यार्थस्य यथा—

साधयन्ती प्रिये, कृष्णमतिदूनासि मत्कृते ।
सद्भावस्नेहकर्तव्यं तावद् विरचितं त्वया ॥

हे प्रिये, प्रियसखि, मत्कृते मदर्थं, श्रीकृष्णं साधयन्ती, साधिष्यन्ती गमनार्थे प्रयुज्यते । तत्समीपे गच्छन्तीत्यर्थः । अतिदूनासि=परितप्तासि दूङ्परितापे कर्तरि क्त ओदितश्चेतिनत्वम् । अत्र मत्प्रियं श्रीकृष्णं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यम् । तेन च श्रीकृष्णविषयक सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् । व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—

'कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग भृङ्ग मीनाहताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥

पञ्चभिरिन्द्रियैः पञ्चविषयान्, स्पष्टमन्यत् । सर्वेन्द्रियाणामतिप्रमाथित्वं व्यज्यते । तेन तेषां वशीकरणं कर्यत्वियोपायविवेव जायते इति व्यज्यते । यत्रेदमुच्यते 'ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामिन्द्रियवासना । महामयं प्रकुर्वाणा द्विधाणामेव नश्यति ॥

तीनों की व्यञ्जकता दिखलाते हैं—सर्वेषामिति—मम्मटादि आचार्यों ने वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य तीनों को ही व्यञ्जक माना है । वाच्य की व्यञ्जकता का उदाहरण—अवलोकयेति—कमलिनी के पत्ते पर निष्पन्द= चेष्टाहीन बगुला इस तरह बैठा हुआ है जैसे निर्मल मूँगे के पात्र पर श्वेत शङ्ख रक्खा हो । श्रीकृष्ण के प्रति यह किसी गोपी की उक्ति है । यहाँ निष्पन्द का अर्थ है—क्रिया-विरह । इससे बक आश्वस्त है अतः यह संकेत-स्थान ठीक है । लक्ष्यार्थ का उदाहरण—साधयन्तीति—हे प्रिय सखि, तू मेरे लिये श्रीकृष्ण के पास जाने में कष्ट पाकर बहुत पतली-दुबली हो गई है । यहाँ पर व्यञ्जन है कि तू ने श्रीकृष्ण के पास जाकर स्वयं स्नेहभाव प्रदर्शन किया अतः तू मेरी शत्रु है । उस कृष्ण को भी मैं इसका फल चखाऊँगी । व्यङ्ग्य का उदाहरण—कुरङ्गेति—जब हरिण, हस्ती, पतङ्ग, भ्रमर और मछली ये पाँच एक-एक इन्द्रिय से मारे जाते हैं

तब मनुष्य पाँचो इन्द्रियो से पाच विषयो का भोक्ता क्यो न मरे। अतएव इन्द्रिया बडी प्रमाथी है इनका वशीकरण बडा कठिन है यह व्यङ्ग्य हुआ।

(वाचकलक्षणम्)

यो यं गृहीतसकेतमर्थं वक्ति स वाचक' ॥३॥

य शब्दो यशाब्यवधानेन गृहीतसकेतमर्थं वक्ति—अभिधत्ते सोऽत्र वाचक । सकेतश्चास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इति भगवदिच्छारूप । सोऽय पदविशेष्यकोऽर्थविशेष्यको बोधविशेष्यकश्चेति शक्तिवादे विचार । स एव शक्ति । इय शक्ति पदपदार्थयोर्वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्धएवेति वैयाकरणा आलङ्कारिकाश्चाहु । सकेतग्रहश्चासति बाधके व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्यादित ।

वाचक का लक्षण करत हैं—यो यं इति—जो शब्द गृहीत सकेत अर्थ को कहे वह वाचक कहलाता है। सकेत का स्वरूप बतलाते हैं—सकेतश्चेति—इस शब्द से यह अर्थ जानना यही सकेत कहाता है। शक्तिवाद मे यह तीन तरह का माना गया है। पदविशेष्यक अर्थविशेष्यक और बोधविशेष्यक। वैयाकरण और आलकारिक पदपदार्थ के वाच्य-वाचकभावरूप सबन्ध को ही सकेत मानते हैं। वह सकेत व्याकरणादि से गृहीत होता है ॥३॥

(अभिधालक्षणम्)

योऽर्थो गृहीत सकेत. तद्बोधो प्रथमाभिधा।
गुणे जातौ च सकेतो गृह्यते द्रव्यकर्मणोः ॥४॥

गृहीतसकेतो मुख्यार्थं वाच्यार्थ इति यावत्। मुख्यत्व च लक्ष्यव्यङ्ग्यापेक्षया प्रथमोपस्थिति विषयत्वम्। बोद्धी=शाब्दबोधजनयित्रीत्यर्थं। तथा चाभिधीयते कथ्यते साकेतिक शब्दार्थोऽनयेति निर्वचनात् सकेतितार्थबोधजनिका शक्तिरभिधेत्युच्यते। सा च त्रिविधा केवलसमुदायशक्ति, केवलावयवशक्ति, समुदायावयवशक्तिश्च। एता एव विधा रूढि, योग, योगरूढि-शब्दैर्व्यपदिश्यन्ते। अवयवार्थमनपेक्ष्य समुदाय-

शक्तिमात्रेणार्थबोधकत्व रूढित्वम् । अवयवार्थसवलित समुदायशक्त्यार्थबोधकत्व योगरूढित्वम् । अवयवशक्त्या समुदायशक्त्या चार्थबोधकत्व यौगिकरूढित्वम् । आद्याया डित्यादि । द्वितीयाया पाचकादि । तृतीयाया पङ्कजादिरुदाहरणम् । 'चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्ति रिति म्हलूक् सूत्रभाष्यरीत्या शब्दो जात्यादिभिश्चतुर्धा भिद्यते । तत्र गौरश्वाभिसम्बन्धाद्गौरितिवाक्यपदीयोक्ते जातिर्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका । 'सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते' इत्यादि चोलोगुणवचनादिति सूत्रभाष्योक्त लक्षणो गुणो विशेषाधानहेतु शुक्लादि । द्रव्यशब्दा देवदत्त, यज्ञदत्त विष्णुमित्रादय । कर्म=क्रिया साध्यत्वेनाभिधीयमाना पचति पाकादि । 'यावत्सिद्धमसिद्ध वा साध्यत्वेनाभिधीयते सा क्रिया' इति हर्युक्ते । 'नहि क्रिया क्रियान्तरसमवाय गच्छतीति सार्वधातुके यगितिसूत्रभाष्योक्ते क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकधर्मवत्त्व साध्यत्वम् । अन्यत्सिद्धत्वमिति । एष्वेव व्यक्तेरुपाधिषु सकेतो गृह्यते न व्यक्तिमात्रे । सर्वासु व्यक्तिषु सकेतग्रहस्वीकारे व्यक्तीनामानन्त्यात् युगसहस्रेणापि सर्वासा तासा नानासभवात्, सामान्यलक्षणानङ्गीकारात् । एकस्या व्यक्तौ सकेतस्वीकारे तदतिरिक्ताया व्यक्ते तच्छब्दाद्बोधान स्यादिति व्यभिचारात् । नापि जातिमात्रे व्यक्ति विना जातिभानस्यासभवात् । तस्माज्जात्यादिविशिष्टव्यक्तौ स इति न्यायविद । सरूपसूत्रव्याकरणभाष्येऽपि जातिविशिष्टव्यक्तिरर्थ इति बुध्यते । अधिकमस्माभिर्न्यायमुक्तावलिटीकाया प्रतिपादितम् ॥४॥

अभिधा का लक्षण बतलाते हैं—योऽर्थ इति—गृहीत-सकेत अर्थ को कहनेवाली पहली शक्ति अभिधा है ।

गृहीत सकेत का अर्थ है—मुख्यार्थ—उसी को वाच्यार्थ कहते हैं । मुख्य वह इसीलिए कहा जाता है कि लक्ष्य और व्यङ्ग्य की अपेक्षा वह पहला है । 'अभिधीयते' इत्यादि से अभिधा का निर्वचन किया है । वह प्रथम तीन प्रकार की मानी है । केवल-समुदाय-शक्ति, केवलावयवशक्ति और

समुदायायपदशक्ति। रूढ़ि, योग, योगरूढ़ि, ये नाम भी इन्हीं तीनों शक्तियों के हैं। पहली का उदाहरण—डित्थादि है, दूसरी का—पाचकादि। तीसरी का—पङ्कजादि। चतुष्टयीति—महाभाष्यकार के मत से शब्द चार प्रकार का होता है—जातिशब्द, गुणशब्द, द्रव्यशब्द और क्रियाशब्द। जातिशब्द=गोत्वादि हैं। गोत्व=गोपिण्ड (गोव्यक्ति) में रहता है। क्योंकि वह गोनिष्ठ जो भेद उसकी प्रतियोगिता का अनवच्छेदक धर्म है। जाति और व्यक्ति अलग नहीं रह सकती क्योंकि गोत्वादिमत्त्व बाधेयता सबन्ध से गवादि-व्याप्य है। गुणशब्द=शुक्लादि हैं। जो कृष्ण गवादि से व्यावृत्ति कराने वाले हैं। द्रव्यशब्द=देवदत्तादि हैं। क्रियाशब्द=पचति-पाकादि रूप से दो प्रकार के हैं। पचत्यादिसाध्य पाकादिसिद्ध॥ नहीति—क्रिया क्रियान्तर की अपेक्षा नहीं रखती—इस भाष्योक्ति से क्रियान्तर की आकांक्षा का अनुत्थापक तावच्छेदक धर्मसाम्य होता है। अन्यसिद्ध। एष्वेवेति—इन्हीं चारों व्यक्ति की उपाधियों में सकेत का ग्रहण होता है न कि व्यक्ति में। केवल व्यक्ति में सकेत ग्रहण करने से आनन्त्य और व्यभिचार-दोष आता है। इसलिये जात्यादिविशिष्ट व्यक्ति में सकेत करना चाहिये ऐसा नैयायिकों का मत है। व्याकरण भाष्यकार ने पहले तो जाति और व्यक्ति दोनों ही गवादि पदों के अर्थ माने हैं परन्तु सरूप सूत्र भाष्य में वे भी विशिष्ट में सहमत हो गये हैं॥४॥

(लक्षणालक्षणम्)

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढेरथप्रयोजनात्।
ययार्थो लक्ष्यते ह्यन्य. सोच्यते लक्षणा बुधैः॥५॥

मुख्यार्थस्य=वाच्यार्थस्य, बाधे=वक्तृतात्पर्याविषयत्वे, तद्योगेऽमुख्येन लक्षणीयेन मुख्यार्थस्य योगे सबन्धे सति, रूढिप्रयोजनान्यतरहेतुकत्वे च सति यया वृत्त्याऽन्यो मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्तधर्मावच्छिन्नोऽर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा। दर्पणकृतात्वत्र ययान्योऽर्थ. प्रतीयते इत्युक्तं तदसत्। प्रतीतेर्व्यञ्जनरूपत्वात्। 'पचाप सुन्दर' इत्यादौ पञ्चापादिशब्दो

देशविशेषे स्वार्थेन सम्भवति। विवक्षितस्याङ्गप्रत्यङ्गादि निरूपित सौन्दर्यस्य तत्राभावात्। यथा शब्दशक्त्या स्वोत्पन्नान् स्त्रीपुरुषाल्लक्षयति। यथा च 'कुरुक्षेत्रेऽस्मद्गृहम्' इत्यत्र चत्वारिंशत्क्रोशपरिमिता भूमिः कुरुक्षेत्रपद-वाच्या, तत्र सर्वदेशावच्छेदेनास्मद्गृहासम्भवात् अस्मद्गृहाधिकरणत्वयोग्य तदेकदेशं लक्षयति सा लक्ष्यते, स्वाभिमतार्थोऽन्येति निर्वचनात् लक्षणा मन्यते। पूर्वत्र हेतुरूढि प्रसिद्धिरेव। द्वितीयप्रयोगे स्वगृहस्य पवित्रत्वादि-बोधन प्रयोजनम्। इयमेव नैय्यायिकैः स्वारसिकलक्षणोच्यते। मुक्तावलि-कारा मुख्यार्थस्यान्वयानुपपत्तिं तात्पर्यानुपत्तिं च लक्षणाबीजमाहुः। वेदान्तपरिभाषाकारा केवलां तात्पर्यानुपपत्तिमेव। मीमांसकाश्चान्वया-नुपपत्तिम्। 'सति तात्पर्ये सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः' इति किं लक्षणयेति भाष्यकारोक्तिस्तु योगिदृष्ट्या नास्मद्दृष्ट्या, शास्त्र त्वसम्भवमिप्रायेणेति वैयाकरणैरपि सा मन्यते ॥५॥

अब लक्षणा का लक्षण करते हैं—मुख्यार्थबाध इति—पूर्वोक्त अभिधा शक्ति के द्वारा जिसका बोध न किया जाय वह मुख्यार्थ है। इसका बाध=वक्तृतात्पर्या विषयत्व होने पर अमुख्य से मुख्यार्थ का योग होने पर और रूढि (प्रसिद्धि) के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन के लिए जिस शक्ति द्वारा अन्य=मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्तधर्मा-वच्छिन्न, अर्थ लक्षित=ज्ञात हो वह शक्ति लक्षणा कहाती है। यहाँ लक्षणा के चार कारण बतलाए हैं—मुख्यार्थ का बाध, उसके साथ लक्ष्यार्थ का सबन्ध, रूढि और प्रयोजन। इनमें पहले दो तो सर्वत्र आवश्यक हैं, पिछले दो में से किसी एक का होना आवश्यक है। उदा-हरण—'पचापसुन्दर' है। यहाँ पचाप शब्द दश-विशेषार्थ में अनुपपन्न है क्योंकि विवक्षित अङ्ग प्रत्यङ्ग-निरूपित सौन्दर्य उसमें नहीं। वह अपने में उत्पन्न स्त्री-पुरुषों को लज्जित करता है।

दूसरा उदाहरण—'कुरुक्षेत्रेऽस्मद्गृहम्' हमारा गृह कुरुक्षेत्र में है। चालीस कोस की भूमि 'कुरुक्षेत्र' कहलाती है। उस सम्पूर्ण भूमि में एक

गृह का होना असम्भव है। अतएव हमारे गृह को अधिकरणता की योग्यता रखने वाला उसका एक देश लक्षित होता है। 'पंजाब सुन्दर' इस प्रयोग में कारण है—रूढि प्रसिद्धि। क्योंकि पंजाब में होने वाले स्त्री-पुरुष जितने सुन्दर होते हैं, वैसे कहीं भी नहीं, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है और अक्षरशः सत्य भी है। द्वितीय प्रयोग—'कुरुक्षेत्र में हमारा घर है' यहाँ प्रयोजन कारण है, जिसके द्वारा निज गृह की पवित्रता बोधन कराना प्रयोजन है। कुरुक्षेत्र की पवित्रता के कारण ही ब्रह्मादि देवों ने यहाँ हजारों यज्ञ किये थे और यह तपस्या तथा धर्म का केन्द्र था। नैया-यिक, वेदान्ती, मीमांसक और वैयाकरणों ने भी लक्षणा को माना है। सभी शब्द सब अर्थों के कहने वाले हैं भाष्यकार का यह कथन केवल योगियों की दृष्टि से है, सर्वसाधारण की दृष्टि में नहीं। शास्त्र सर्व-साधारण के लिए है अतः वैयाकरणों को भी लक्षणा माननी पड़ती है॥

> व्यङ्ग्यार्थरहिता रूढौ व्यङ्ग्ययुक्ता प्रयोजने ।
> व्यङ्ग्यं गूढमगूढं च तदिह द्विविधा मता ॥६॥

रूढिलक्षणाया न किञ्चिद् व्यङ्ग्यं भवति। प्रयोजनवत्या तु पवि-त्रत्वादि व्यङ्ग्यमस्त्येव। सहृदयमात्रवेद्यं व्यङ्ग्यं गूढम्। तदेव हि चम-त्करोति। यथा ममच्छायापदे—

> भवतोपकृतं यन्मे बहु तत्र किमुच्यते ।
> एवमेव सखे कुर्वन् सुखमास्व शतं समाः ॥

शतं समाः=शतवर्षपर्यन्तं, 'शतायुर्वै पुरुष इति श्रुतेः'। योऽधिकं जीवति स वर्षशतं जीवति' इति भाष्योक्तेश्च। न चैवं स्वीकारे कथमथर्ववेदे—'सहस्रायुः सुकृतः चरेयमिति वाच्यम्। यास्केन निरुक्तग्रन्थे शतसहस्रादिशब्दानां बहुत्वसंख्यावाचकत्वस्य निर्धारणात्। एतेन 'षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक' इत्यादि रामायणाद्युक्तं व्याख्यातम्। सुखं सुखपूर्वकं यथा स्यात्तथा क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं क्लीबत्वं च। 'भवदादिसर्वनाम-सामान्यवाचीति भाष्योक्तेरिव बहुभिः

कारैस्तप्यमानस्य कस्यचित्किंचिदपकारिणं प्रत्युक्तिः स्वविरुद्धमपकारादि-रूपमर्थं लक्षयति। निरपराधस्यापि सत्यमेवानिष्टमाचरतस्तव दुष्टत्वं स्वस्य साधुत्वद्योतनं व्यङ्ग्यम्। तच्चातितरां निगूढं सहृदयमात्रवेद्यत्वात्।

तथाचोक्त-श्लोक एवं कलितः—

भवताऽपकृतं यन्मे बहु तत्र किमुच्यते।
एवमेवाऽसखे कुर्वन् सुखमास्व शतं समाः॥

अगूढं सहृदयासहृदयवेद्यं, तच्च वाच्यायमानतया न चमत्करोति। यथा ममैव छायापद्ये—

लक्ष्मी-परिचयान्मूढा हार्दज्ञा विदुषामपि।
यौवनस्य मदः स्त्रीणां ललितान्युपशिक्षति॥

लक्षधातोरीप्रत्यये मुडागमे च लक्ष्मीः प्रसिद्धैव तस्याः परिचयो लाभः तस्मान्मूढाः 'मुह् वैचित्त्ये' वैचित्त्यमविवेक इति कौमुदीकारः। मूर्खा अपि विदुषां हार्दज्ञा अभिप्रायवेदिनो भवन्ति। स्त्रीणां स्त्रीभ्यः चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। स्त्रियस्त्रिविधा भवन्ति। स्वस्त्री, परस्त्री, साधारणस्त्री च, स्वस्त्रियः त्रयोदशभेदा दर्पणे द्रष्टव्याः। परस्त्री द्विविधा, परोढा कन्यका च। साधारणस्त्री वेश्यापि द्विविधा अनुरक्ता विरक्ता च। आद्या मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनादिः। द्वितीया लटकमेलकादौ मदनमञ्जर्यादिः। स्त्रीणां पद्मिनी, हस्तिनी, शङ्खिन्यादयो भेदाः शास्त्रान्तरादवगन्तव्याः। अत्रोपशिक्षतीत्यनेनाविष्करोतीति लक्ष्यते। चेतनधर्मस्योपशिक्षणस्य यौवनमदे बाधात्। गाढाविष्कारोऽनायासेन ललितज्ञानं च व्यङ्ग्ये तयोर्वाच्यवत्प्रतीतेरगूढत्वम्। वाच्यगुणत्वनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारजनकत्वात्। एवं चैषा लक्षणावृत्तिः—अव्यङ्ग्या, गूढव्यङ्ग्या, अगूढव्यङ्ग्या चेति भेदात् त्रिविधा। तत्र व्यङ्ग्यरहिता रूढिलक्षणैकविधैव। प्रयोजनवती—प्रथमतो द्विविधा, शुद्धा गौणी च। शुद्धा चतुर्विधा—उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना च। गौण्यपि सारोपा साध्यवसाना चेति षड्विधा। गूढागूढत्वेन द्वादशधा। मिलित्वा अयो-

दशविधा लक्षणा । तत्र रूढिप्रयोजनयोरुपादानलक्षणायाः श्वेतो धावति । 'कुन्तान् प्रवेशय' इति भाष्योक्ते उदाहरणे । रूढिप्रयोजनयोर्लक्षणलक्षणायाः 'पचापः सुन्दरः' कुरुक्षेत्रेऽस्मद्गृहमिति चोदाहरणे । 'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इति च सारोपा साध्यवसानयो. । इमे भेदाः शुद्धायाः । 'गौर्वाहीकः' 'गौरयम्' इति च गौण्याः । अत्रायुर्घृतमायुरेवेदमित्यादौ जन्यजनकभावादिः संबन्धः । तत्पूर्वके सारोपासाध्यवसाने । गौणभेदयोस्तु 'गौर्वाहीक' इत्यत्र सादृश्यं लक्ष्यतावच्छेदक गवाभेदप्रत्ययः प्रयोजनम् । गौरयमित्यत्र सर्वथाऽभेदावगमश्च ॥६॥

रूढि-लक्षणा व्यङ्ग्यार्थ से रहित होती है और प्रयोजनवती व्यङ्ग्य से युक्त । व्यङ्ग्य दो तरह का होता है—गूढ़ और अगूढ । इसलिए यह लक्षणा तीन प्रकार की हुई—एक अव्यङ्ग्या, दूसरी गूढव्यङ्ग्या, तीसरी अगूढव्यङ्ग्या । जैसे गूढ (छिपा हुआ) कोई शरीराग चमत्कारजनक होता है वैसे ही गूढव्यङ्ग्य । इसका उदाहरण—भवतेति । तूने मेरा बहुत उपकार किया इसी तरह करते हुए तुम सौ वर्ष तक जीओ । यहाँ विरुद्ध अर्थ है ।

यहाँ पूर्वोक्त श्लोक इस तरह फलित हुआ । भवतापकृतमिति—अर्थात् हे दुष्ट, तू ऐसा पापाचरण करता हुआ सैकड़ो वर्ष तक दु:खित रह । अगूढव्यङ्ग्य का उदाहरण—लक्ष्मीपरिचयादिति—लक्ष्मी की प्राप्ति से मूर्खातिमूर्ख भी चतुर हो जाते हैं । जैसे यौवन का मद ही स्त्रियो को ललित (हावभाव) आदि का ज्ञान करा देता है । यहाँ उपदिशण का अर्थ प्रकट करना लक्षित होता है । अनायासेन ललित भाव व्यङ्ग्य है । वह स्फुट होने से अगूढ है । क्योंकि वाच्यवृत्ति से अनालिङ्गित (अस्पृष्ट) व्यङ्ग्य ही चमत्कारजनक अर्थात् गूढ़ होता है । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि व्यङ्ग्यरहित रूढि लक्षणा एक ही प्रकार की होती है । प्रयोजनवती—पहले दो प्रकार की है—एक शुद्धा, दूसरी गौणी । शुद्धा के चार भेद हैं—उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा और साध्यव-

साना। गौणी भी सारोपा और साध्यवसाना होती है। अत [illegible] भेद हुए। व्यङ्ग्य को गूढ और अगूढ होने के कारण वह फिर बारह प्रकार की हो गई। रूढि और प्रयोजन में उपादानलक्षणा के उदाहरण—श्वेतो धावति। कुन्तान् प्रवेशय। आगे सब उदाहरण स्पष्ट हैं ॥६॥

(लाक्षणिकलक्षणम्)

तद्भूर्लाक्षणिकस्तत्र व्यापृतिर्व्यञ्जनात्मिका।
विना संकेतमभिधा नैव हेतुश्च लक्षणा ॥७॥

तद्भूर्लक्षणाश्रयः शब्दो लाक्षणिक कथ्यते। प्रयोजनं प्रतिपादयितु लाक्षणिकशब्दः प्रयुज्यते। तत्र नान्यत शब्दात्तत्प्रतिपत्ति'। न च तत्र व्यङ्ग्यनिष्ठव्यञ्जनाहृतेऽन्य कश्चन व्यापारोऽस्ति सहृदयहृदयसम्मत। ननु प्रयोजनप्रतिपादनेऽभिधादिरेव समर्था किं व्यञ्जनयेत्यत्राह—विना संकेतमित्यादि। 'कुरुक्षेत्रेऽस्मद्गृहम्' इत्यादौ पवित्रत्वादि-धर्मास्तदेकदेशे ग्रामविशेषे प्रतीयन्ते। तत्रैकदेशे संकेताभावान्नाभिधा नापि च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावात् ॥७॥

अब लाक्षणिक शब्द का निरूपण करते हैं—

तदाश्रय इति—लक्षणावृत्ति का आश्रय लेने वाला शब्द लाक्षणिक कहाता है। किसी भी प्रयोजन का बोधन कराना लाक्षणिक शब्द का कार्य है। उसके अतिरिक्त शब्द के उच्चारण करने से वह प्रयोजन नहीं निकल सकता। और उस प्रयोजन में व्यङ्ग्यनिष्ठ व्यञ्जना व्यापार के अतिरिक्त किसी भी वृत्ति का व्यापार नहीं रहता। अब आशंका करते हैं कि उस प्रयोजन को यदि अभिधा और लक्षणा वृत्ति ही निकाल सके तो व्यञ्जनावृत्ति की क्या आवश्यकता। उत्तर—'कुरुक्षेत्र में हमारा घर है' इस प्रयोग से गृह-पवित्रत्वादि प्रयोजन निकलता है, इसको निकालने में दोनों ही असमर्थ हैं। 'कुरुक्षेत्र प्रान्त में हमारा घर है' कहने से गृह में उतनी पवित्रता द्योतित नहीं होती। अतः 'कुरुक्षेत्रे' कहा ॥७॥

(व्यञ्जनालक्षणम्)

विरामे सति वृत्तीनां ययान्योऽर्थः प्रकाश्यते ।
शब्दनिष्ठार्थनिष्ठा च व्यञ्जनावृत्तिरिष्यते ॥८॥

अभिधा-लक्षणा तात्पर्यवृत्तीनां स्वस्वमर्थं बोधयित्वा विरामे सति यया मुख्याऽन्योमुख्यलक्ष्यतात्पर्यार्थभिन्नोऽर्थः प्रकाश्यते व्यज्यते सा वृत्तिर्व्यज्यते विलक्षणोऽर्थोऽनयेति निर्वचनात् व्यञ्जनेत्याख्यायते—

अद्यारभ्य चिरं साधो निःशङ्कमिह संचर ।
रेवाकुञ्जे मृगेन्द्रेण स श्वाद्य प्रतिघातितः ॥

अत्र भिक्षुकं प्रत्येवंवदन्त्याः कुलटायाः प्रतिवेशिनं प्रति निःशङ्करमणविधानं व्यङ्ग्य तदेतद् व्यञ्जनां विना नैव लब्धव्यम् । व्यङ्ग्यता चैषा शब्द-तदर्थ-पद-पदैकदेश-वर्णरचना-चेष्टादिष्वपि तथैवानुभवात् । इयं च मुख्यतयाऽऽलंकारिकैर्वैयाकरणैरेव च स्वीक्रियते । परन्तु द्योतकत्व-तात्पर्यग्राहकत्वादि-शब्दैर्व्यवहरद्भिस्तार्किकैरपि व्यञ्जना स्वीकार्यैव । अनुमित्येमा गतार्थयतो भट्टमहिमादेस्तु मतं सर्वथैव न युक्तं, सद्धेतुनामनैकान्तिकादिदोषप्रसक्त्वेनाभासत्वात् । सा व्यञ्जना द्विविधा—शब्दनिष्ठा अर्थनिष्ठा च ।

विरामे सतीति—अपना-अपना अर्थ बोधन करके अभिधा आदि वृत्तियों के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ का बोधन होता है वह शब्द में तथा अर्थ में रहने वाली चौथी वृत्ति-व्यञ्जना मानी जाती है। इसका उदाहरण—अद्यारभ्येति—हे साधो, तू आज से लेकर सदा के लिये इस उद्यान में निःशङ्क विचर क्योंकि इस रेवा नदी के कुञ्ज में आये हुए एक सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला जो तुम्हें भौंकता था। यहाँ डरपोक भिक्षु के लिये उस कुलटा का यह कहना (रेवाकुञ्ज में सिंह का होना) भिक्षु के आगमन का निषेधक है और अपने प्रेमी के निःशङ्क रमण का विधायक। अर्थात्—वाक्यार्थ-सञ्चरण की विधि व्यङ्ग्यार्थनिषेध में परिणत हो जाती है ॥९॥

(नानार्थनिष्ठ-व्यञ्जना-लक्षणम्)

नानार्थस्य च शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियंत्रणे ।
एकार्थस्यान्यधी कृद्या शाब्दी सा व्यञ्जना मता ॥६॥

नानार्थस्य=अनेकगृहीतशक्तिकस्य शब्दस्य, न च नानार्थेषु तस्यै-कस्या एव शक्तेरवगमात्तस्य नानार्थत्वं, नाना-शक्तिमत एव नानार्थत्वा-दिति वाच्यम् । शक्यतावच्छेदकभेदेन शक्तिभेदस्यावश्यकत्वात् । अन्यथा हर्यादिपदेऽपि तादर्थ्यस्यापत्तेः । नियन्त्रणम्=अपरार्थोपस्थितिप्रतिबन्धः । वाच्यार्थातिरिक्तार्थबोधको व्यापारः शाब्दी व्यञ्जनैव नाभिधादिकम् । अर्थविशेषस्य विनापि तदर्थ-प्रत्ययोत्पत्तौ वायुमत इमिवत् । अत एव भक्षयति वायुमेव भक्षयतीति भाष्योक्तेः । यत्तत्र रसगङ्गाधरकारेण नानार्थस्याप्राकरणिकेऽर्थे व्यञ्जनेति मम्मटादिसिद्धान्तो न युक्त इत्युक्तं तन्न समीचीनम् । तादृशार्थस्य व्यञ्जनैकगम्यतायाः सकलाचार्यसम्म-तत्वात् । संयोगादयश्च शब्दार्थविप्रयोगादयो वाक्यपदीये चोक्ता हरिणा वाक्यपदीये—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

तत्र संयोगः=प्रसिद्धसम्बन्धः, विप्रयोगो वियोगः, साहचर्यं=साहित्यं, सदृशयोरेव सहप्रयोग इति कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीयेति सूत्रभाष्ये व्यक्त-मात् । विरोधिता=प्रसिद्धवैरम्, अर्थः=प्रयोजनम्, प्रकरणं=वक्तृ-श्रोतृबुद्धिस्थत्वम्, लिङ्गम्=अन्यत्रासम्भवी धर्मः, सन्निधिरेकार्थता, सामर्थ्यम्=शक्तिः कारणता वा, औचिती=योग्यता, व्यक्तिः=पुंनपुंस-कादि, एते तात्पर्यसन्देहनिरासद्वारा शब्दार्थस्य विवक्षितार्थज्ञानजनका भवन्ति । क्रमेणोदाहरणानि—'सशङ्खचक्रो हरिः', 'अशङ्खचक्रो हरिः', अत्र शङ्खचक्रादेः संयोगविप्रयोगादिना परस्परसम्बन्धेऽपि विष्णुमात्रनिष्ठत्वेन

प्रसिद्धेः तत्संयोगवियोगौ विष्णुमेव बोधयतो नत्विन्द्रादिकम् । 'भीमार्जुनौ' इत्यर्जुनः पार्थ एव, भ्रातृत्वेन साहचर्यात् । नचेन्द्रपुत्रत्वाद्विष्णोरंशत्वाद्वा चाभ्यर्हितं चेति पाणिनिसूत्रेणार्जुनस्य पूर्वनिपातो युक्त इति वाच्यम् । 'भ्रातुर्ज्यायस' इत्यनुशासनेन भीमस्य पूर्वनिपातात् । 'कर्णार्जुनौ' इति कर्णः सूतपुत्रो नतु श्रोत्रम् । तयोर्वैरस्य लोकप्रसिद्धत्वात् । 'स्थाणुं वन्दे भवच्छिदे' इति स्थाणुः शिवो नतु शुष्कवृक्षः । 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेतीत्यादिश्रुत्या भवच्छेदन-कर्तृत्वप्रयोजनस्य शिवादेव सिद्धेः । 'सर्वं जानाति देव', इति देवः प्रकृते भवान् । 'कुपितो मकरध्वज.' इति मकरध्वजः कामो नतु समुद्रः । तत्र कोपरूप-लिङ्गाभावात् । वेदान्तसूत्रितोऽभिमानि-व्यपदेशस्तु नात्र विवक्षितः । नच कामेऽपि कोपकर्तृत्वं न संभवति । तस्यानङ्गत्वप्रसिद्धेः । 'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत इति श्रुतेश्चेति वाच्यम् । 'हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ।' 'चापत्यग्रे कलितललिताकाण्डकोपो मनोभूः'' इत्याद्यभियुक्तोक्त्या शौर्यकोपादिगुणानां तत्राङ्गीकारात् । 'देवः पुरारिः' इतिपुरारिर्वैपद-सन्निधेः त्रिपुरारिः शिव एव नतु 'पुरं देहेऽपि दृश्यते' इत्यनुसार देहादिः । 'मधुना मत्तः पिक.' इति मधुर्वसन्त । कोकिलत्वजात्यवच्छिन्नकोकिलमादने मधोरेव शक्तिर्नतु मधुनः । 'पातु वो दयितामुखम्' इति मुख-मौचित्या साम्मुख्यम् । नच मुखशब्दस्य वदनवाचकत्वमस्तु चुम्बनादिना वदनस्यापि कामत्राणजनकत्वौचित्यादिति वाच्यम् । असम्मुखीनदयितावदनस्य कामत्राणजनकत्वौचित्याभावात् । 'विभाति गगने चन्द्र.' इति चन्द्रो गगनदेशस्थः चन्द्रमा नतु कर्पूरपूरः । तस्याकाशवृत्तित्वाभावात् । 'निशि चित्रभानुः' इति चित्रभानुर्वह्निः । रात्रिकाले सूर्यभानस्यासम्भवात् । 'भाति रथाङ्गम्' इति नपुंसकव्यक्त्या रथाङ्गं चक्रम्, नतु रथाङ्गपक्षी तद्वाचकस्य पुंस्त्वात् । स्वरस्तु 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्वे'त्यादौ वेद एव विशेषप्रतीतिकरो नतु काव्ये इति तस्य विषयो नोदाहृतः । आदिपदादभिनयादिः । यथा—

एतावन्मात्रस्तनी मेतावन्मात्रपङ्क्ता ।
पङ्कजाक्ष, भवत्यस्य तव वक्षःस्थलाङ्कृति ॥

कस्याश्चिद्गोप्या श्रीकृष्णं प्रत्युक्तिरियम् । अत्र मुखाद्याकाराव हस्तचेष्टयाबोधितम् । 'न भुङ्क्ते', इति सूत्रभाष्येप्युक्तम्—'इहेङ्गितेन निमिषितेन चेष्टितेनाप्यभिप्रायो गम्यते । इत्यमनेकार्थस्य शब्दस्य यया वृत्त्या द्वितीयार्थो बुध्यते सा शाब्दी व्यञ्जनैव । यथा—शालकादिप्रयुक्ते—'सुरभिमांसं भक्षयतीत्यादौ । अत्र सुगन्धिमांसभोजनप्रकरणे द्वितीयार्थ-गोमांसोपस्थितौ श्रोतुर्जुगुप्सा जायते । नच प्रथमार्थबोधानन्तरं तादृश-पदज्ञानस्य विरामात्कथं व्यञ्जनयापि द्वितीयार्थधीरिति चेन्न । प्रथमार्थ-प्रतीतेर्व्यापारस्य शृङ्खलाया अविच्छिन्नत्वात् । श्लेषे द्वयोरर्थयोर्वाच्यत्व-मेककालत्वं च, इहैकस्य वाच्यत्वमपरस्य व्यङ्ग्यत्वं भिन्न-कालत्वं च ।

अब शब्दनिष्ठा व्यञ्जना का निरूपण करते हैं—नानार्थस्येति—संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के प्रकृतोपयोगी एक अर्थ के निर्णीत हो जाने पर भी जिसके द्वारा अन्य अर्थ का ज्ञान होता है । वह शब्दनिष्ठा व्यञ्जना समझनी चाहिये । शङ्का—अब कहते हैं कि जब नानार्थों में शब्द की एक ही शक्ति का भान होता है तब नानार्थता कैसे ? नाना शक्ति वाला ही तो नानार्थ हो सकता है । उत्तर—शक्यता-वच्छेदक भेद से शक्ति का भेद होता है, क्योंकि अवच्छेदक भेद अवच्छेद्य भेद पर नियत होता है । ऐसा न मानने पर हर्यादि पद में (जो अनेकार्थक है) भी एक शक्ति माननी पड़ेगी—जो अनुपपन्न है । अतएव शक्यतावच्छेदक भेद से शक्ति भेद मानना आवश्यक है । कारिका में नियन्त्रण शब्द का अर्थ है, अन्य शब्द का निषेध । कारिका के द्वितीय भाग का अर्थ यह है कि वाच्यार्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यापार शाब्दी व्यञ्जना ही है न कि अभिधादि । यहाँ रस-गङ्गाधरकार ने मम्मटादि के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है परन्तु यह असंगत है क्योंकि यह सिद्धान्त सकल-सम्मत है । वहीं पर उसने दोनों अर्थों की उपमा में व्यञ्जना स्वीकार की है वह भी गलत है जब वहाँ व्यञ्जना व्यापार स्पष्ट है तो उसे पहले ही क्यों न मान लिया जाये । संयोगादि कारिका में आदिपद से विप्रयोग आदि का ग्रहण है । ये सभी

संयोग विप्रयोगादि शब्द के अर्थ का अनवच्छेद (अनिर्णय अथवा तात्पर्य मे सदेह) होने पर विशेष ज्ञान के कारण होते है। अर्थात् जब कही किसी अनेकार्थक शब्द का तात्पर्य सन्दिग्ध होता है तो प्रकरणादि के द्वारा विशेष ज्ञान हुआ करता है। सशङ्खचक्र इत्यादि—शङ्ख चक्र का प्रसिद्ध संबन्ध विष्णु के ही साथ है, अत शख-चक्र के सयोग मे हरिपद विष्णु का ही बोधन कराता है। वियोग (विश्लेष) वहाँ ही होता है जहाँ संयोग हो 'अशंखचक्रो हरि' कहने पर भी हरिपद विष्णु को ही कहता है। 'भीमार्जुनौ' कहने से दोनो भाई सहचर पाण्डवो का ही बोध होता है। 'कर्णार्जुनौ' कहने पर प्रसिद्ध वैर होने के कारण कर्ण शब्द से सूत-पुत्र ही का ग्रहण होता है कान का नही। अर्थ नाम प्रयोजन का है—'स्थाणुं वन्दे भवच्छिदे' यहाँ संसारोच्छेद रूप प्रयोजन शिव भगवान् से ही सिद्ध हो सकता है न कि शुष्क वृक्ष से, अत स्थाणु पद का अर्थ यहाँ शिव ही है। 'सर्वं जानाति देवः' यहाँ देव पद का अर्थ प्रकरणगत राजा आदि है। 'कुपितो मकरध्वजः' इस वाक्य मे मकरध्वज पद से कामदेव का ही ग्रहण है समुद्र का नही। क्योकि कोपरूप लिङ्ग समुद्र मे नही रहता। यद्यपि काम को भी अनङ्ग माना है तथापि अभियुक्तोक्तियो से उसमे कोपादि का होना सिद्ध है। 'देवः पुरारिः' यहाँ कोशबल से पुर नाम देह का भी है, परन्तु देवपद की सन्निधि से पुरारि का अर्थ 'शिव' ही है देहादि नही। 'मधुना मत्तः पिकः' इस वाक्य मे मधु पद का अर्थ वसन्त ही है क्योकि कोकिल को मस्त करने मे उसी का सामर्थ्य है, शहद आदि का नही। 'पातु वो दयितामुखम्' यहाँ औचित्य के कारण मुखपद का अर्थ साम्मुख्य (अनुकूलत्व) ही है केवल मुख नही। विभातीति—यहाँ चन्द्रमा का ही बोध होता है कर्पूर समूह का नही; क्योकि आकाश मे चन्द्रमा ही रहता है कपूर नहीं। 'निशि चित्रभानुः' यहाँ चित्रभानु का अर्थ अग्नि है, सूर्य नही, क्योकि रात्रि मे अग्नि ही रहती है। 'भाति रथाङ्गम्' यहाँ नपुंसकत्व के कारण पहिये का ही ग्रहण है चकवाक पक्षी का नही। स्वर उदात्तादि वेद मे (इन्द्रशत्रु वर्द्धे इत्यादि) मे ही निर्णायक हैं काव्य में नही; अतः

वह छोड़ दिया। आदि पद से यहां अभिनयादि लेना। उदाहरण—एता-वदिति—यह किसी प्रगल्भ दूती की श्रीकृष्ण के प्रति उक्ति है। यहाँ अङ्ग-प्रत्यङ्गों का हस्तचेष्टा से बोधन किया है। द्वितीयार्थ=व्यङ्ग्यार्थ का उदाहरण—सुरभीति—यहाँ वाच्यार्थ=सुगन्धित मास और व्यङ्ग्यार्थ गोमांस है ॥६॥

(आर्थीव्यञ्जनालक्षणम्)

वक्त्रादीनां च वैशिष्ट्यादार्थी सा व्यञ्जनेष्यते।

यः परबोधनाय वाक्यमुच्चारयति स वक्ता, स च कविः तन्निबद्धो नायकादिश्च। आदिपदात् प्रतिपाद्य काकुचेष्टादेश्च परिग्रहः। एषां सर्वे यस्य प्राधान्यं तेन व्यपदेशः। प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति सिद्धान्तात्। प्राधान्यं च चमत्कार-प्रयोजकत्वम्। वैशिष्ट्यमिविशेष-योगात्सहकारादिति यावत्। तदभावे व्यञ्जनानुदयात्। एवं च वक्त्रादि-वैशिष्ट्यहेतुका वाच्यार्थयोः तद्धेतुव्यापारस्वमार्थी व्यञ्जनेति फलितम्। यथा—'गतोऽस्तमर्कः' इति वाक्येन द्विजातौ वक्तरि प्रतिपाद्ये वा सन्ध्या-वन्दनस्यायमवसर इति। गोपालबालके वक्तरि प्रतिपाद्ये वा 'संह्रियन्तां गावो गृहं प्रति निवर्तामहे' इत्यादिका अर्थास्त्वयादिवैशिष्ट्याद् व्यज्यन्ते।

अब शब्द की व्यञ्जना का निरूपण करके अर्थ-मूलक व्यञ्जना कहते हैं—अथेति—वक्त्रादीति—जो दूसरे को बोधन करने के लिये वाक्य उच्चारण करे वह वक्ता कहा जाता है। आदि पद से ग्राह्य हैं प्रतिपाद्य=जिससे प्रतिपादन किया जावे। काकु=कण्ठ की विशेष ध्वनि, और चेष्टा आदि की विशेषता के कारण। जो शब्द-शक्ति अन्य अर्थ का बोधन कराती है वह अर्थमूला व्यञ्जना है। जहाँ इन सब का मकर है वहाँ जिसका चमत्कार अधिक है उसी का प्राधान्य होने से व्यपदेश होता है। वक्ता और प्रतिपाद्य (बोद्धव्य) दोनों का उदाहरण—'गतोऽस्तमर्कः' इसका वाच्य अर्थ तो यही होगा कि 'सूर्य अस्त हो गया' परन्तु व्यङ्ग्यार्थ—जहाँ द्विजाति (ब्राह्मणादि) वक्ता अथवा प्रतिपाद्य है वहाँ सन्ध्यावन्दन का

समय हो गया, जहाँ गोपाल बालक वक्ता अथवा प्रतिपाद्य है। वहाँ गायों को घर पर लाया जावे—इत्यादि ॥

(व्यञ्जकलक्षणम्)

तद्युक्तो व्यञ्जकस्तत्त्व द्वयोश्च सहकारत ॥१०॥

तया व्यञ्जनया युक्त शब्दो व्यञ्जक इत्युच्यते। तत्त्व व्यञ्जकत्वम्। द्वयो शब्दार्थयो, यथा शब्दो व्यञ्जकत्वेऽर्थमपेक्षते तथार्थं शब्दमपि न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते इति वाक्यपदीयोक्ते। शब्द-पूर्वको ह्यर्थे सम्प्रत्यय इति भाष्योक्तेश्च। तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारोऽवश्यमङ्गीकर्तव्य। अथासख्यभेदस्यापि ध्वनेर्ध्वनिकारदिशा केपि विशेषा प्रदर्श्यन्ते। तथाहि द्विविधो ध्वनि। शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। तत्राद्यस्त्रिविधो रसवस्त्वलकारध्वनिभेदात्। रसध्वनिरग्रे वक्ष्यते। वस्तुध्वनिर्यथा वेणीसहारे—

निर्वाण वैरिदहना प्रशमादरीणा
नन्दन्तु पाण्डुतनया सह माधवेन।
रक्त-प्रसाधितभुव क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुता सभृत्या ॥

निर्वाण शमित वैरिरूपोऽग्निर्यैस्ते पाण्डुतनया शत्रूणा प्रशमान्नन्दन्तु। अत्र कुरूणा क्षतशरीरादिक वस्तु शब्दशक्त्यैव प्रतीयते। अलकार-ध्वनिर्यथा भट्टत्रिविक्रमस्य।

'नलोऽपि मा प्रत्यनलोऽसि
यत्तद् भवादृशा नैषध नैष धर्म ॥

भवास्त्व नलोऽपि स-मा दमयन्ती प्रत्यनलोऽग्निरसि—भवसि, हे नैषध, भवादृशा दयालुना नैष धर्म कर्तव्यम्। अत्र विरोधाभासालकारो व्यज्यते। वस्तुत्वस्य केवलान्वयित्वेनालकारस्यापि वस्तुत्वे गोबली-वर्दन्यायेन वस्त्वलकारयोर्भेद। अलकार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेना-लकारत्वम्। अर्थशक्तिमूलश्च द्विविध। अर्थान्तरसक्रमितवाच्योऽत्यन्त

तिरस्कृतवाच्यश्च । आद्यो यथा ध्वन्यालोके— न्द्रोऽत्र।

एवमेव जनस्तस्या ददाति वदनोपमायां शशिबिम्बम् ।
परमार्थतो विचारे पुनश्चन्द्रः चन्द्र एव वराकः ॥

एवमेव=विनैव विचारम् । जनो लोकः शशिबिंबं=चन्द्रम्, परमार्थतो वस्तुतः, अत्र मुख्यार्थतावच्छेदकं द्वितीय-चन्द्रत्व लक्ष्यतावच्छेदके क्षयित्व-रूपेऽर्थे परिणमति । द्वितीयो यथा भगवद्गीतायाम्—

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥'

निशेति च, निशेव निशा=आत्मनिष्ठा, संयमी=योगी, तस्यां जागर्ति=जागरणशीलो दृश्यते । यस्यां तु विषयनिष्ठायां भूतानि=सर्वे प्राणिनो जाग्रति, सा आत्मतत्त्वं पश्यतो मुनेर्निशा । अनेन हि वाक्यार्थेन न निशायां मया जागरणार्थः कश्चिद् विवक्षितः । किन्तर्हि तत्त्वज्ञानावहितत्वमतत्त्वपराङ्मुखत्वं च ।

तद्युक्तः—व्यञ्जना से युक्त (व्यञ्जनोपाधिक) शब्द व्यञ्जक कहलाता है । शब्द अर्थ की और अर्थ शब्द की अपेक्षा करता है । अतः एक की व्यञ्जकता में दूसरे की सहकारिता अवश्य माननी पड़ेगी । यद्यपि ध्वनि के अनेक भेद हैं तथापि ध्वनिकार की शैली से मुख्य भेद यहाँ दिखाये जाते हैं । ध्वनि पहले दो प्रकार का है—शब्द-शक्ति-मूलक और अर्थ-शक्तिमूलक । पहली के तीन भेद हैं—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि । रसध्वनि की चर्चा आगे करेंगे । वस्तुध्वनि का उदाहरण—निर्वाणवैरीति—शत्रुओं को शान्त (नष्ट) कर देने से शत्रुरूप अग्नि जिन्होंने बुझा दी ऐसे पाण्डव लोग, श्रीकृष्ण सहित आनन्दित हों । और रक्त से जिन्होंने भूमि को अलङ्कृत कर दिया और क्षत शरीर कौरव स्वस्थ=शान्त हों । यहाँ कौरवों का क्षतशरीरादि वस्तु=शब्द-शक्ति से व्यञ्जित होता है ।

अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण—नलोऽपीति—हे नैषध=नल ! तू नल

समय

श्रमणेति—जब कोई ब्राह्मण, श्रमणक (जैनसाधु) हो जाय तो ब्राह्मण नहीं रहता। परन्तु पहली दशा के अनुसार उसे 'ब्राह्मणोऽयं श्रमणक' कह देते हैं। इसी प्रकार शलक्यार्थ होने पर भी विरोधाभासादि में अलंकार पद का प्रयोग जानें। अर्थमूल भी दो तरह का है। पहले का उदाहरण—एवमेवेति—लोक उस नायिका की मुखोपमा में चन्द्र को रखते हैं परन्तु वह ठीक नहीं।

अत्रेति—यहाँ मुख्यार्थतावच्छेदक है द्वितीय चन्द्र व अर्थात् दूसरा चन्द्रप्रयोग, वह लक्ष्यतावच्छेदक क्षयित्व अर्थात्—क्षयशालिरूप अर्थ में परिणत हो जाता है। द्वितीय उदाहरण—या निशेति—जो सब प्राणियों के लिये रात्रि है कौन=आत्मनिष्ठा उसमें योगिजन जागते रहते हैं। जिस विषयनिष्ठा में सब प्राणी जागते हैं उसमें योगिजन सोया करते हैं। अत्रेति—यहाँ न तो निद्रा से तात्पर्य है और न ही जागरण से किन्तु योगी तत्त्वज्ञान में सावधान होते हैं और अतत्त्वों से पराङ्मुख यह अर्थ विवक्षित है। अर्थात् निशा और जागरण ये दोनों अत्यन्त तिरस्कृत हैं॥१०॥

(रसध्वनेरात्मनो रसस्य लक्षणम्)

विभावैरनुभावैश्च व्यक्तः सचारिभिस्तथा।
स्थायिभावो हि रत्यादिः प्राप्नोति रसरूपताम्॥११॥

नायकादिनिष्ठोऽपि प्रीत्यादिर्ज्ञानसबन्धेन सहृदयनिष्ठो रसो भवतीति भावः। विभावादयोऽग्रे चर्चिष्यन्ते। व्यक्तोऽभिव्यक्तिविषयीकृत ।
यथा शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयते

स्वयं च प्रकाशते। एवं रस आत्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादींश्च। भरतोऽपि सूत्रयति—विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति। अस्य सूत्रस्य चत्वारो व्याख्यातारः। तत्र मीमांसकरीत्या भट्टलोल्लटमते स्थायिना विभावेनोत्पाद्योत्पादक-भावरूपादनुभावेन गम्यगमकभावरूपाद् व्यभिचारिणा पोष्यपोषकभावरूपात्सम्बन्धात् मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानात् रसस्य निष्पत्तिरुत्पत्तिः। परमत्र मते रामादावेव रसनिष्पत्त्या सहृदये रसनिष्पत्त्यभावाच्चमत्कारानापत्तिरिति दोष। चमत्कारश्च काव्यजीवातुः। तार्किकरीत्या श्री-शङ्कुकमते स्थायिनो विभावादिभिः संयोगादनुमाप्यानुमापकभावरूपात् सम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरनुमितिः। प्रत्यक्षमेव ज्ञानं चमत्कारजनकं नानुमित्यादिकमिति लोकप्रसिद्धयाऽत्रापि दोषः। सांख्यरीत्या भट्टनायकमते विभावादिभिः संयोगाद् भोज्यभोजक-भावरूपात्सम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिर्भुक्तिरिति। अपूर्वं=भोज्यभोजक-भावरूप-व्यापारद्वयकल्पने मानाभावोऽत्रापि दूषकः। साहित्यरीत्या अभिनवगुप्तपादमते विभावादिभिः सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूपात्सम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरभिव्यक्तिः। अनवद्यमेतन्मतम्—एवमभिधयानभिधेयस्य, लक्षणयापि चालक्षणीयस्य, परमानन्दाविनाभाविन्या केवलं व्यञ्जनया प्रतीयमानस्य चास्य रसस्य विकासक्रमस्त्वेवः। भरतेन नाट्यशास्त्रे रस. पूर्णरूपेण निरूपितः। भामहभट्टोद्भटाभ्यामस्य रसवदाद्यलंकारतया परिस्थितिः कृता। दण्डिनासावंकुरितोऽपि न पल्लवितः। ध्वनिलोचनकाराभ्यामेतस्य प्राधान्यं प्रवर्तितम्। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, प्रभृतिभिरेव पराकाष्ठां नीतो विजयतेतराम् ॥११॥

अब रसध्वनि के आत्मा रस का निरूपण करते हैं—विभावैरनुभावैश्चेति—सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थित वासनारूप प्रीत्यादि स्थायिभाव ही विभाव, अनुभाव और संचारिभावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं॥

नायक आदि में रहने वाले जो प्रीत्यादि भाव ज्ञानसम्बन्ध से सहृदयगोचर होकर रस बन जाते हैं। विभावादि की चर्चा आगे करेंगे। व्यक्त

का तात्पर्य यहाँ अभिव्यक्ति का विषय किया हुआ है। जैसे शराव (शराई) से ढका हुआ दीपक शराई के हटा लेने से अपने समीप के सब पदार्थों का प्रकाशित कर देता है, और स्वय भी प्रकाशित रहता है, इसी तरह रस भी आत्मचैतन्य और विभावादियुक्त रत्यादि को प्रकाशित करता है। भरत भी कहते हैं—विभाव अनुभाव और सचारि के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र के चार व्याख्याता हैं। मीमासक भट्ट-लोल्लट के मत मे विभाव से उत्पाद्योत्पादक सबन्ध द्वारा अनुभाव से—गम्यगमक भाव संबन्ध द्वारा और सचारी से पोष्यपोषक सबन्ध द्वारा रामादि मे तद्रूप का अनुसन्धान होने से रस की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है। परमत्रैति—परन्तु यहाँ यह दोष है कि ऐसा मानने से श्रीरामादिको मे ही रस की उत्पत्ति हो सकेगी सहृदयो मे नही। तार्किक श्रीशकुक के मत मे विभावादिको के साथ स्थायि (प्रीत्यादि) के सयोग (अनुमाप्या-नुमापक भाव रूप सबन्ध) से रस की निष्पत्ति अर्थात् अनुमिति होती है। परन्तु लोक मे प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कार-जनक माना है अनुमित्यादि नही। यहाँ यह दोष है। साख्य-मतावलम्बी भट्टनायक के मत मे भोज्य-भोजक रूप सबन्ध से रस की निष्पत्ति (भुक्ति) मानी है। परन्तु इस सबन्ध मे अर्थात् ऐसे व्यापार द्वय कल्पन मे कोई प्रमाण नही यह दोष है। अत' साहित्याचार्य अभिनव गुप्तपाद का निष्पत्ति=अभिव्यक्तिवाद ही सर्वमान्य सिद्धान्त है। रसका विकास क्रम यह है—नाट्यशास्त्र मे भरत ने रस का पूर्ण रूप से निरूपण किया है। भामह और भट्टोद्भट ने रस को रसवदादि अलकार माना है। ध्वनिकार ने इसका प्रवर्तन किया है। और मम्मटादि ने इसको पूर्णत प्रचलित कर दिया ॥११॥

> कार्यकारणसंचारिरूपा लोके हि ये मताः।
> विभावाद्या रसोद्बोधे कारणानि भवन्ति ते ॥१२॥

रसोद्बोधे=रसव्यञ्जने, कारणानीत्यस्य समानलिङ्गत्वाभावेऽपि समानवचनत्वम् 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीतिवत्। सामग्री-

भेदेन तन्निष्ठकारणत्वस्य भेदाद् बहुवचनान्तता । 'वेदाः प्रमाणमि'त्यत्र तु विधेयपदोत्तरविभक्त्या बहुत्वविरुद्धमेकत्वं विवक्षितं, तच्च—प्रवृत्त्यर्थतावच्छेदके प्रमितिकरणत्वेऽन्वेति । एवमेव 'इति हेतुस्तदुद्भवे' इत्यत्र काव्यप्रकाशे । ननु यदि विभावादीनां मिलितानामेव रसनिष्पत्तिं प्रतिहेतुतावच्छेदकत्वं तदा कथकार तेषामेकस्य द्वयोर्वा सद्भावेऽपि रसः स्यादित्युच्यते ।

कार्यकारणेति—लोक में कार्य, कारण तथा सचारी रूप होने पर भी रस के उद्बोधन करने में विभाव, अनुभाव और सचारी तीनों ही कारण माने जाते हैं । क्योंकि पूर्वोक्त अलौकिक विभावनादि व्यापार के द्वारा तीनों ही रस का उद्बोधन करते हैं । यहां 'कारणानि' पद में भिन्नलिङ्गता होने पर भी समानवचनता है, 'प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दा प्रमाणानि' इसकी तरह । सामग्री भेद से तद्गत कारणता का भेद होने से बहुवचनता हुई । शंका—फिर 'वेदा प्रमाणम्' यह कैसे, उत्तर—यहां तो प्रमाणोत्तर विभक्ति का बहुत्व-विरुद्ध एकत्व विवक्षित है । वह प्रवृत्त्यर्थतावच्छेदक प्रमितिकरणत्व रूप एक वस्तु में अन्वित है । शंका—ननिवति—यदि विभाव, अनुभाव और सचारी इन तीनों के मिलने पर ही रस व्यञ्जन होता है तो जहां कहीं एक अथवा दो ही का वर्णन है वहां कैसे होगा । उत्तर—मध्ये यदि इति—विभावादिकों में से दो अथवा एक होने पर भी शेष का अध्याहार हो जाता है ॥१२॥

मध्ये यदि विभावादेर्द्वयोरेकस्य संभवः ।
अन्याध्याहारतस्तत्र स दोषो विनिवर्तते ॥१३॥

अध्याहारः समाक्षेप, स च प्रकरणादिवशात् । यथा—

त्वन्मुखं यदि नो राधे, वृथा चन्द्रमसः कथा ।
त्वन्नेत्रे यदि रम्भोरु, नोच्यमम्भोरुहं बहु ॥

अत्र राधामात्रविभाववर्णनेऽपि सञ्चारिणामौत्सुक्यादीनामनुभावानां नेत्रविस्फारादीनामौचित्यादेवाक्षेप इति सक्षेप ।

यहा अन्य का अध्याहार प्रकरणादि से लेना। इसका उदाहरण—यथेति त्वन्मुखमिति—हे सुन्दर नेत्रोवाली राधे! तेरे मुख के रहते चन्द्रमा की कथा कहनी व्यर्थ है। और तेरे नेत्रो के आगे कमल वृथा हैं। यहा राधा नायिका मात्र विभाव है। उसके औत्सुक्यादि सचारियो का और नेत्रो का विकास औचित्य से ही समझ लिया जाता है ॥१३॥

(रसे प्रमाणम्)

चर्वणैव रसे मानं स्वस्याभिन्नतयेष्यते ।

स्वस्याभिन्नतया=स्वतादात्म्येन, तादात्म्यं च भेदाघटितत्वम्। चर्वणा काव्यार्थज्ञानजन्य स्वाद। स च परब्रह्मास्वादात्समाधेरपि विलक्षण। नन्वस्या चर्वणाया सुखांशभावे किं मानमिति चेत्। समाधावपि तद्भावे किं मानमिति पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात्। 'समा विप्रतिपत्ति स्यादिति' जैमिनिसूत्रात्। 'यत्रोभयो समो दोष परिहारोऽपि तादृश। नैकस्तत्रानुयोक्तव्य' इति तत्र—वार्तिकोक्तेश्च। सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियमित्यादि शब्दोऽस्ति प्रमाणमिति चेत्। अत्रापि 'रसो वै स' रसं लब्ध्वानन्दी भवतीत्यादि श्रुति प्रमाणम् ॥

अब रस को प्रमाणित करते हैं—चर्वणैवेति—रसज्ञान मे अभेदबुद्धि से चवर्णा ही प्रमाण है। काव्य के अर्थज्ञान से जो आस्वाद आता है वही चवर्णा है। वह आस्वाद परब्रह्म का है स्वाद जिसमे उस समाधि से भी विलक्षण है।

अथ के ते विभावादय इत्याशङ्कायां विभावादीनाह—

लोके रत्यादि-जनका विभावा काव्य एव ते ॥१४॥

ये नाम लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव काव्ये नाटके च निबद्धा सन्तो विभावा कथ्यन्ते।

अथेति—रस निरूपण मे विभावादिको का नाम बार बार आया है अत उनका लक्षण करना प्रसङ्ग-प्राप्त है—लोक इति—लोक में जो रत्यादि के जनक (उद्बोधक) हैं व ही काव्य और नाटक मे विभाव

कहलाते हैं। लोक में सीता आदिक जो रामचन्द्रादि की रति आदि के उद्बोधक माने जाते हैं वे ही यदि काव्य और नाटक में निवेशित किये जायं तो विभाव-पदवाच्य होते हैं। अर्थात् सीता आदि के दर्शन या श्रवण से ही सहृदयों के हृदय में वासनारूप से स्थित रत्यादि भाव रस रूप में परिणत हो जाते हैं।

(विभावलक्षणम्)

आलम्बनोद्दीपनाख्ये तद्भिदे कविभिर्मते ।
नायकोपवनादीन्या लम्बनोद्दीपने क्रमात् ॥१५॥

तद्भिदेति—तस्य=विभावस्य, नायक इति नायिकाया अप्युपलक्षणम्। भेदद्वयमिदमग्निपुराणेऽप्युक्तम्।

विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते ।
विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः ॥

यमुद्दिश्य रत्यादिः प्रवर्तते स आलम्बनम्। नायकनिष्ठे रसे नायिकालम्बनं नायिकानिष्ठे च तस्मिन्नायक इति न विस्मर्तव्यम्। निमित्तं चोद्दीपकं तच्च चन्द्रिकोपवन-पवनरमणीगान-रहःस्थान-प्रभृति ॥१५॥

विभाव के दो भेद हैं—आलम्बनेति—आलम्बन और उद्दीपन, उनमें आलम्बन विभाव नायक (श्रीराम) आदि होते हैं क्योंकि उन्हीं का आश्रय लेकर रस की निष्पत्ति होती है। यही बात अग्निपुराण में लिखी है। उद्दीपन=चन्द्रिका (चांदनी), उपवन (बगीचा), स्त्रियों का गान और रहः (एकान्त) स्थान आदि।

(अनुभावलक्षणम्)

स्व-स्व-हेतुभिरुद्भूतं बहिर्भावं प्रदर्शयन् ।
कार्यरूपो हि यो लोकेऽनुभावः सोऽत्र मन्यते ॥१६॥

आलम्बनोद्दीपनकारणैरुद्भूतं प्रेम्णादिभावं 'रामोऽयं सीताविषयक-प्रीतिमान्' इत्येवं बहिः प्रदर्शयन्ननुभावयन् यः खलु कार्यमितिनाम्ना

व्यपदिश्यते लोके सोऽनुपश्चाद्भवो यस्येति व्युत्पत्त्या काव्ये नाटके चानुभावः ॥१६॥

अब अनुभाव का लक्षण कहते हैं—स्वस्वहेतुभिरिति—सीता आदि आलम्बन तथा चन्द्रादि उद्दीपन कारणों से रामादि के हृदय में उद्भूत रत्यादि को बाहिर प्रदर्शित करने वाला लोक में जो रति का कार्य कहलाता है वही काव्य नाटक में अनुभाव कहा जाता है।

(सचारिलक्षणम्)

सम्मुखे चरणादेते संचारि-पदवीं श्रिताः ।
स्थायिन्युन्मग्न-निर्मग्नाः त्रयस्त्रिंशन्मताबुधैः ॥१७॥

स्थायिनि=प्रीत्यादौ, उन्मग्ना बुद्बुदवत्, विद्युद्विद्योतवद्वा, झटिति प्रतीताः। निर्मग्ना विलम्बप्रतीतिकत्वेन तिरोहिता ये धर्मास्ते त्रयस्त्रिंश-त्संख्याकाः सचारिणः कथ्यन्ते रससहचारित्वात्।

सम्मुखे इति—रस के सम्मुख में सचरण के कारण इन्हें सचारि पदवी प्राप्त है। ये स्थिरता से विद्यमान प्रीत्यादि स्थायि भाव में उन्मग्न-विद्युत्प्रकाशवत् आविर्भूत, निर्मग्न=विलम्बतया तिरोभूत होकर अनु-कूलता से व्याप्त रहते हैं। ये तेंतीस सचारी भाव अथवा व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। रस के सहचारी होने से ये सचारीभाव कहे गये हैं। अब तेतीसो का नामोल्लेख करेंगे।

(सचारिभेदा)

आलस्यं दीनता चैव मोहचिन्ते धृतिस्मृती ।
निर्वेदश्च तथा ग्लानिः शङ्कासूया मदश्रमाः ॥१८॥
लज्जा चापल्य-गर्वौ च जड़ताऽवेग एव च ।
अभिमानो विषादश्च निद्रापस्मार उत्कता ॥१९॥
स्वप्नं प्रबोध उग्रत्वममर्षश्चाव हित्यकम् ।
व्याध्युन्मादौ मतिस्तर्कौ मरणं त्रास एव च ॥२०॥

एषु मरणं न प्राणवियोगात्मकं ग्राह्यं चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु मुख्यमरणस्यासभवात् । ननु मात्सर्य क्षमा-सहायादीनामपि लक्ष्येषु दर्शनात्त्रयमेतत्परिगणनं पर्याप्तमिति चेन्न । उक्तेष्वेषामन्तर्भावसंभवात् यत्त्वत्र रसगङ्गाधरकारो गुरुदेवनृपपुत्रादिविषया प्रीतिं मेलयित्वा सचारिणां चतुस्त्रिंशत्संख्यामाह तन्न युक्तम् । मुनिगणना भङ्गप्रसङ्गात्। मम्मटादिभिर्देवादिविषयरतेर्भावत्वेनोत्कीर्तनाच्च ॥

आलस्यमिति—१ आलस्य, २ दीनता, ३ मोह, ४ चिन्ता, ५ धैर्य, ६ स्मरण, ७ निर्वेद, ८ ग्लानि, ९ शंका, १० असूया, ११ मद, १२ श्रम, १३ लज्जा, १४ चपलता, १५ गर्व, १६ जड़ता, १७ आवेग, १८ अभिमान, १९ विषाद, २० निद्रा, २१ अपस्मार (रोगविशेष), २२ उत्कण्ठा, २३ स्वप्न, २४ प्रबोध, २५ उग्रता (क्रूरता), २६ अमर्ष (असहन), २७ अवहित्था (हर्षादि के आकार को छिपाना), २८ व्याधि (वात-पित्त-कफजन्य-ज्वरादि), २९ उन्माद (चित्त मोह), ३० मति (अर्थ-निर्धारण), ३१ तर्क (सदेहात्मक विचार), ३२ मरण, ३३ त्रास। इनमें मरण (प्राण-वियोग) नहीं लेना, अपितु चित्तवृत्त्यात्मक भाव । शंका—मात्सर्यादिक अन्य भाव भी देखने में आते हैं फिर ये ही क्यों ? उत्तर—इन सब का पूर्वकथितों में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

(रसभेदाः)

शृङ्गारो हास्य-करुणौ रौद्रो वीरभयानकौ ।
बीभत्सोऽद्भुतशान्तौ च काव्ये नव रसाः स्मृताः ॥२१॥

अत्र नवेति रसा इति च द्वेऽपि पृथक्पदे। अन्यथा समाहारसमासे—'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इति भाष्यकारेष्टया त्रिलोकीतिवत् नवरसीत्यापत्तेः । कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान्प्रति हृद्यत्वेति पूर्वं शृङ्गारस्य, तदनुगामित्वात् हास्यादीनां पश्चान्निर्देशः । न च प्रीतेः परमाह्लादजनकत्वेन रामादाविव सहृदयेऽपि सुखजनकत्वात्तु शृङ्गारस्य रसत्वं, करुणादीनां तु स्थायिनः शोकादेर्दुःख-

सभिन्नत्वेन कथं रसत्वमिति वाच्यम् । शोकावच्छिन्नस्य चैतन्यानन्दस्याधिकत्वात् । शोकांशस्य न्यूनत्वात् । अतएव हि करुणादि-रसप्रधानेषु रामायणादि-प्रबन्धेषु रामलीलादिषु च सर्वेषां प्रवृत्तिर्दृश्यते । सत्यस्यैव शोकादेर्दुःखजनकत्वं प्रतिनियतं न कल्पितस्येति तु न शक्यमभिधातुं रज्जुसर्पादीनामपि भयकम्पाद्युत्पादकत्व-प्रसङ्गात् । न च रसस्य काल्पनिकत्वं, सकलसामाजिकानां रसास्वादानुभवात् ।

यत्त्वत्रेति—रसगङ्गाधरकार ने ३४ व्यभिचारी भाव माने हैं परन्तु वे मुनिगणना भङ्ग होने से ठीक नहीं । और मम्मटादि ने ३४वें को भाव माना है सचारी भाव नहीं । अब रसों का भेद दिखाते हैं—शृङ्गार इति—शृङ्गार आदि नौ रस हैं । पहला रस शृङ्गार इसलिये माना है कि वह सब योनियों के जीवों को प्रिय है । शङ्का—प्रीति को आनन्दजनक होने से उसके रस शृङ्गार में रस (सुख) है । परन्तु शोक दुःखमय होने से करुणादि में रस (सुख) कैसे माना जा सकता है । उत्तर—उसमें भी चैतन्यानन्द बहुत है शोकांश बहुत कम । इसीलिये रामायणादि के पढ़ने-सुनने में और रामलीला देखने में सबकी प्रवृत्ति देखी जाती है । सहृदयों को रस आने से रस को काल्पनिक भी नहीं कह सकते ।

(शृङ्गारलक्षणम्)

परस्परावलोकेन स्पर्शनालिङ्गनादिभिः ।
स्त्रीणां च पुरुषाणां च शृङ्गारो जायते रसः ॥२२॥

यूनो परस्परावलोकनादिभि शृङ्गाररसो भवति । उदाहरणं मम—

शून्यं कुञ्जगृहं दृष्ट्वा पत्युः सुखस्य छद्मना ।
स्पृश्यमाना मुखं राधा स्मित्वा कृष्णेन वीक्षिता ॥

शून्यं=सख्यादिरहितम् । अनेन मुखस्पर्शन-प्रवृत्तियोग्यता ध्वन्यते रागहेतुकोऽधरकरणक संयोगानुकूलो व्यापारः मुखस्पर्शन-पदार्थः । 'मुख नेत्र, बाहुमूल, कपोलौष्ठद्वयवराङ्गान्यष्टौ स्पर्शन-स्थानानि, रागतः सर्वाण्यपीति कामशास्त्रम् । स्मित्वा=स्मितं कृत्वा, स्मितं चोत्तमानां हास्यं

यदुक्तं नाट्यशास्त्रे—'स्मितहसिते श्रेष्ठाना मध्याना विहसितोपहसिते च। अधमानामपहसितं ह्यतिहसितं चेति विज्ञेयम् ॥ अत्र भगवान्कृष्णो राधा चालम्बनविभावौ। शून्यं लतागृहमुद्दीपनविभावः। मुखस्पर्शनमनुभावः। हासः सञ्चारीभावः तज्जे सामाजिके शृङ्गाररसव्यक्तिरेवमग्रेऽपि। एष शृङ्गारो द्विविधः। संयोगो विप्रलम्भश्च। रतेः संयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमो मत्वेकत्र स्थितिरूप ईर्ष्यादिसद्भावे विप्रलम्भस्य वर्णनात्। वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः। ननु स्थानान्यत्वम्। मनसि प्रीतिसत्त्वे स्थानान्यत्वेऽपि संयोगस्यैव वर्णनात्। उदाहरणं मम सुलतानचरिते—

'अभिनय नयने नियोलितास, कृतकसमाधिरयं तव प्रतीतः।
अलमलघुतयाऽद्य मामनङ्गज्वरवधुं स्ववधू कुरुष्व कण्ठे ॥

अभिनयोद्घाट्य, कृतकसमाधिः=छलघटितसमाधिः। अलघुतया= विलम्बेनाल, विलम्बो न कर्तव्यः, गम्यमानापि क्रिया कारक-विभक्तौ प्रयोजिकेति तृतीया। यद्यपि स्त्रियो विलासैरेवानुराग प्रकटयन्ति ननु स्पष्टैः, तथाप्यतिकामातुरत्वादेवमुक्तिः। एषोऽभिलाषहेतुको विप्रलम्भो विरहहेतुको वा। न च यमकालंकारघटितत्वेन तदेव पद्य नास्योदाहरणं भवितुमीष्टे। 'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्। शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषत. ॥ इति ध्वनिकारोक्तेरिति वाच्यम्। एतादृशरचनायाः सहृदयहृदयानुद्वेजकत्वेन रसपोषकत्वेन च त्यागानर्हत्वात्। शृङ्गाररसो वारणादिप्रयोगे प्रकृष्यति। 'बहु वार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वं च। या च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः ॥ इति भरतोक्ते ॥२२॥

शृङ्गाररस का लक्षण—परस्परेति—स्त्री पुरुषों के परस्पर देखने एवं स्पर्शन से शृङ्गाररस होता है। इसका क्रम निम्न प्रकार से है—स्त्री और पुरुषों का परस्पर एक-दूसरे को देखना, अभिलाषा करना, परस्पर में राग होना, स्नेह (प्रेम) होना उसके बाद प्रीति और शृङ्गार, ये संयोग के भेद हैं। दृष्टि और मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प होना, जागते रहना अर्थात् निद्रा न आना, अत्यन्त कृश हो जाना,

किसी भी वस्तु में चित्त न लगना, लज्जा का नाश, और मूर्च्छा, ये दस वियोग (विप्रलम्भ) के भेद हैं। 'रति-रहस्य' ग्रन्थ मे भी लगभग यही क्रम है। शृङ्गार का उदाहरण—शून्यमिति—श्रीराधा, कुञ्जगृह को शून्य (सख्यादि-रहित) देख कर, कपटनिद्रा की मुद्रा से सोते हुए श्रीकृष्ण के मुख को देखने और स्पर्श करने लगी। तत्काल ही श्रीकृष्ण हस पड़े और उन्होने प्राणप्यारी राधा के मुख का अपने मुख से स्पर्श किया। कामशास्त्र मे—मुख, नेत्र, स्तन, बाहुमूल, कपोल, दोनो ओष्ठ, और वराङ्ग ये आठ स्पर्श स्थान माने हैं। राग (अत्यासक्ति) से पुरुष किसी भी अङ्ग का स्पर्श कर सकता है। स्मित=उत्तम (श्रेष्ठ) पुरुषो का नाट्यशास्त्र मे हास्य कहा गया है उन सब के भेद यहाँ स्पष्ट दिखाये गये हैं। इस पद्य मे भगवान् कृष्ण और राधा दोनों परस्पर आलम्बन विभाव है। शून्य कुञ्जगृह उद्दीपन विभाव है। परस्पर स्पर्श=अनुभाव, और हास्य सञ्चारीभाव हैं। इनसे सहृदय के हृदय मे शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसी प्रकार सब रसो मे जानना चाहिये। शृङ्गार दो तरह का है—सयोग और विप्रलम्भ, अन्य स्पष्ट है।

सयोग-काल यहाँ एक जगह दोनो की स्थितिरूप विवक्षित नहीं अपितु सयोग काल, ईर्ष्यादि रहने पर एक जगह स्थिति रहते भी विप्रलम्भ ही माना है। इसी प्रकार वियोग भी स्थान की भिन्नता नही, स्त्री-पुरुषो के मन मे प्रीति रहने पर अन्य स्थान मे भी सयोग ही माना है। विप्रलम्भ का उदाहरण हमारे सुलतानचरित काव्य मे है। अभिनयेति—हे व्यर्थ ही नेत्रो को मीचे हुए भद्र पुरुष ! अपने नेत्रो को खोलो यह तुम्हारी कपट-समाधि मैं जानती हूँ ॥२२॥

(हास्यलक्षणम्)

स्थायिभावो यत्र हासः स हास्यः श्वेतवर्णकः ।
आत्मस्थश्च परस्थश्च द्विविधो मन्यते बुधैः ॥२३॥

मुखविकासो हासः। स च द्विविध आत्मस्थः परस्थश्च। द्वयोर्लक्षणं

नाट्यशास्त्रे—'विपरीतालंकारैर्विकृताचाराभिधानवेशैश्च । विकृतैरङ्गविकारैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥ विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेशैश्च । हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ॥ श्वेतः=श्वेतवर्णः, 'मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो'रिति कविसम्प्रदायात् । अत्रेदमपि बोध्यम्—'शृङ्गारो विष्णुदैवत्यः हास्यः प्रमथदैवतः । रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः करुणो यमदैवतः । बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः । वीरो महेन्द्रदेवः स्याददभुतः ब्रह्मदैवतः ॥' उदाहरणं ममैव—

'मयाद्भुतैकस्मिन्नव्ये काव्ये युक्तिः प्रदर्शिता ।
सज्जना हि यथा सेव्या न कथं दुर्जनास्तथा ॥

सर्वशास्त्रेषु सज्जनानामेव सेव्यत्वमुक्तं परन्तु मदीये नव्यकाव्ये दुर्जनोऽप्यत्रोक्तिरद्भुतेति परिहासः । अत्राभिनवतार्किक आलम्बनम् । तदीयाद्भुतोक्तिरुद्दीपनम् । स्मितादयोऽनुभाव-सञ्चारिणौ । यथा वा—

किं चक्रे कालिदासेन माघयो येन वर्णिता ।
किं चक्रे भारविर्येन मातरिश्वा नियोजितः ।

उभयत्र किं चक्रे निन्दितमेव तौ चक्रतुरिति प्रश्नकाकुरुपहासार्था । चक्रे इति कर्मणि कर्तरि च परोक्षे लिट् । परोक्षत्वं च साक्षात्करोमीत्येतादृशविषयताशालिज्ञाना विषयत्वम् । तेन चक्रे सुवत्सुः सुजनैः क्रम्युरित्यादिवक्ष्यमाणस्वेवेति भूषणकाराः । न चात्र क्रियाद्वये पुनरुक्तिदोष इति वाच्यम् । तस्योद्देश्य प्रतिनिर्देश्यभिन्नविषयत्वात् । अत्र माघयोरित्यस्य प्रथमोऽर्थः सुरशिल्पा, द्वितीयस्तु हासमयस्तथा:' एवं मातरिश्वेत्यत्रापि बोध्यम् ॥२३॥

हास्य रस का लक्षण—स्थायिभाव इति—जिस रस का स्थायिभाव हास है, श्वेत वर्ण है और प्रमथ देवता है, वह हास्य रस दो प्रकार का होता है । अपने-आप हँसनेवाला और दूसरों को हँसानेवाला । यहाँ दोनों के भेद और सब रसों के देवता भी स्पष्ट दिखाये गए हैं । हास्यरस का उदाहरण— मयेति—मैंने एक नवीन काव्य में यह नवीन युक्ति दिखलाई है कि जैसे सज्जनों की सेवा की जाती है वैसे ही दुर्जनों की क्यों

नहीं। इस उदाहरण में अभिनवतार्किक आलम्बन-विभाव है, उसकी अपूर्व उक्ति उद्दीपन विभाव, स्मित (ईषद्‌हास्य) और आवेग, अनुभाव और व्यभिचारी भाव हैं। हास्य रस का दूसरा उदाहरण—कि चक्रे इति—कालिदास ने मागधी (सुदक्षिणा) का वर्णन करके क्या किया, मा को गधी बना दिया। एवं भारवि ने अपने काव्य में जगह-जगह पर मातरिश्वा वायुका प्रयोग किया है अथवा मातरि (माता पर) श्वा (कुत्ते) को नियुक्त किया—लगाया है। आशंका—इस उदाहरण पद्य में एक ही 'चक्रे' क्रिया का दो बार प्रयोग क्यों है? उत्तर—दो बार प्रयोग वहाँ दूषित होता है जहाँ उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य भाव नहीं हो, यहाँ दोष नहीं ॥२३॥

(करुणरसलक्षणम्)

अनिष्टाविष्टनाशाच्च　जायते　करुणो रसः।
कपोतस्य मतो वर्णो देवोऽस्य भगवान् यमः ॥२४॥

अनिष्टमिष्टान्यदेव मम्मटभाष्ये तथैव सिद्धान्तितत्वात्। तार्किकास्तु—सर्वथात्यन्ताभावमेव नञर्थमाहुः। करुण.=करुणपदवाच्य., भरतोऽप्याह—'इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य सश्रवाद्वापि। सत्वनवितर्मोहागसंश्च भवति करुणरसः॥ यथा मम दुर्गास्युदये—

'प्रसूनास्तीर्णतल्पे　योऽशेतानल्पेऽसुरेश्वरः।
क्षितौ शेते सकोणोंऽस्य विवर्णो धूलिधूसर॥

प्रसून पुष्पम्, अनल्पेमहति, कोणं प्रक्षिप्त, स्पष्टमन्यत्। अत्र—मृतशुम्भासुर आलम्बनम्। क्षितिशयनकालावच्छिन्नदर्शनादिकमुद्दीपनम्। रोदनमनुभावोदैन्यादय. सचारिणः, यथावा ममैव—

'सुशील सोमदत्ताख्यौ हा सुतौ विनयान्वितौ।
किमतो दुःखबाहुल्य पश्यतो मे दिवंगतौ॥'

करुण का लक्षण—अनिष्टादिति—अनिष्ट=इष्ट से, अन्य की प्राप्ति से, इष्ट के नाश से, और विप्रिय वचन आदि के श्रवण से, करुण रस की

अभिव्यक्ति होती है। इसका रङ्ग कपोत (कबूतर) जैसा है। इसके देवता भगवान् यमराज हैं। इसमें स्थायी भाव शोक है। उदाहरण हमारे दुर्गाभ्युदय नाटक में—प्रसूनेति—कहाँ तो महान् और पुष्पों से ढके हुए सुवर्ण मञ्च पर सोना और कहाँ इन असुरों के सम्राट् शुम्भ का पृथ्वी पर फेंके जाने से धूलि में सोना। यहाँ मृत शुम्भ आलम्बन विभाव है, उसका पृथ्वी पर शयनकालीन दर्शन उद्दीपन विभाव, रोना अनुभाव, और दीनता आदि सञ्चारीभाव हैं। दूसरा उदाहरण—सुशीलेति—हे सुशील और सोमदत्त विनयपूर्ण पुत्रो! तुम मेरे देखते देखते स्वर्ग गत हो गये, इससे अधिक दुःख क्या हो सकता है ॥२४॥

(रौद्ररसलक्षणम्)

स्थायिभावो यतः क्रोधः स रौद्रो रुद्रदैवतः।
वर्णस्तु रक्त एवास्य प्रोक्तो रसविशारदैः ॥२५॥

क्रोधः सङ्ग्रामहेतुकः प्रबोधः। महाकुपितः क्रुध्यतीति भाव्योक्तेः। रुद्रः शिवः। स च चेतनोऽपि जीवाद्भिन्नः। माण्डूक्यादौ 'एष सर्वज्ञः एष सर्वेश्वर' इत्यादिना तस्य जीवकोटि-प्रवेशनिरासात्। 'शिव एको ध्येय' इत्यादि श्रुत्या तस्य ध्येयत्वोक्तेश्च। न च देवीभागवते रुद्रस्य ब्रह्मपुत्रत्वं महोपनिषदि विष्णुपुत्रत्वं महाभारते शिव एव भगवानित्युपक्रम्य—'सोऽसृजद्दक्षिणादङ्गात् ब्रह्माणं लोकसम्भवम्। वामपार्श्वात्तथा विष्णुं लोकरक्षार्थमद्भुतम् ॥' इत्यादिना शिवस्यैव ब्रह्मविष्णुजनकत्वमुक्तमिति परस्परं विरोध इति वाच्यम्। देवता इतरेतरजन्मानो भवन्ति कर्मजन्मान इति निरुक्ते समाधानात्।

उदाहरणं मम दुर्गाभ्युदये—

रे मूढ ! त्वं तावदेव यावत्सुरां पिबामि।
गर्ज गर्ज क्षणान्तरं त्वां यमसद्म नयामि ॥

सुरा=मदिरा, सा चानेकविधा भवति। न च तस्याः 'यो ह्यज्ञानादपि ब्राह्मणो हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्या'दि-

स्यादि-शास्त्रेण निषेधात् कथं परमपवित्राया भगवत्यास्तत्पानकर्तृत्वसम्भव इति वाच्यम्। युद्धोपयोगित्वेन तत्पानसम्भवात्। रागत. पाने दोषाच्च। अत्र महिषासुर आलम्बनम्। तच्छस्त्रोद्यमनमुद्दीपनम्। भगवत्यास्तद्वधादिफलक प्रतिज्ञानुभावः। अन्यनैरपेक्ष्य गम्य-गर्वो व्यभिचारी॥

रौद्ररस का लक्षण—स्थायिभाव इति—जिसका स्थायीभाव क्रोध हो वह रौद्र रस होता है। इसका वर्ण लाल और देवता रुद्र है। यहा क्रोध, संग्रामहेतुक कोप विवक्षित है। रुद्र नाम शिव का है। वह चेतन होने पर भी जीव से भिन्न है, क्योकि माण्डूक्य आदि श्रुतियो मे वह ईश्वर माना है। शङ्का—देवीभागवत मे वह ब्रह्मा जी का पुत्र माना है, महोपनिषद् मे विष्णु का पुत्र, महाभारत मे ब्रह्मा और विष्णु दोनो ही शिवपुत्र कहे हैं ऐसा क्यो? उत्तर—निरुक्त में लिखा है कि यह शक्ति देवताओ में ही है कि एक आत्मा अनेक प्रकार से वर्णित किया जाय, और वे कार्यवश परस्पर-जन्मा हो सकते हैं।

रौद्ररस का उदाहरण—रे मूढेति—रे मूढ महिषासुर, तू तभी तक अपनी निर्भीक गर्जना वा तर्जना कर सकता है जब तक मैं मदिरा पीऊँ। उसके अनन्तर तुझे क्षण मे ही यमराज का अतिथि बना दूंगी। शङ्का—पवित्र भगवती ने सुरापान क्यो किया, क्योकि ब्राह्मण हनन और सुरापान को शास्त्रो ने महादूषित कहा है। समाधान—जैसे मास खाने के लिये पशु-हिंसा दूषित है परन्तु यज्ञ मे पशुहिंसा दूषित नहीं, इसी प्रकार आनन्द के लिये मदिरापान दूषित है युद्ध के लिये नहीं, यहा 'महिषासुर' आलवन है, उसका शस्त्र उठाना 'उद्दीपन', उसके वध की प्रतिज्ञा 'अनुभाव', गर्व 'व्यभिचारी' ॥२६॥

(वीररसलक्षणम्)

गौरवर्णो भवेद् वीर उत्साह स्थायिभावकः।
दानेन दयया युद्ध धर्माभ्या स चतुर्विधः ॥२६॥

उत्साहो हि परपराक्रमादि-स्मरणजन्य उन्नतिजनकश्चित्तवृत्तिविशेषः।

उत्साहप्रधानो युद्धगर्वो वीररसध्वनिरित्यभिसन्धिः । उदाहरणं मम दुर्गाभ्युदये, अरे रे, दानवापसद, अलमलं बहु प्रलप्य—

'मनुष्यत्वस्य गर्वेण क्लीवं न मन्यसे तृणम् ।
तदहं युद्धतुलया निर्णयाम्यद्य यद्गुरु ॥

देव्या उक्तिरियम् । अत्र शुम्भासुर आलम्बनम् । तद्दर्पोक्तिरुद्दीपनम् । सर्वथोपेक्षानुभावो गर्वो व्यभिचारी । अयं वीररसः चतुर्विधो दानदया-युद्धधर्मैस्तदुपाधेः चतुर्विधत्वात् । तत्र दानवीरो बिरला, गोयनकादिः । बिरला गोयनकोदाहरणे ममैव—

'स जयति युगलकिशोरी-बिरला मन्दिरविधानेन ।
'य इन्द्रप्रस्थनगरे लक्ष्मीसाफल्यमात्मनः चक्रे ॥

इन्द्रप्रस्थनगरे=नवीनदेहल्यां लक्ष्मी-साफल्यं चक्रे=कृतवान् ।

॥ गोरीदावरो धन्यो येन दिल्ली-महामखे ।
मार्यद्विलक्षरूप्याणां सौवर्णी दक्षिणा ददे ॥

महामख इति । अयं शतमुखकोटिहोमात्मको महायज्ञः दिल्लीस्थ-निगमबोधनाम्नि यमुनातटे मम तत्त्वावधाने विक्रमीये द्विसहस्रमिते संवत्सरे जातः । सौवर्णी=सुवर्णविकारभूता, गिन्नीतिभाषायाम् । दक्षिणा दक्षतेः समर्द्धयति कर्माणि इति निरुक्तकाराः । यज्ञे दक्षिणाया एव प्राधान्य 'हतो यज्ञस्त्वदक्षिणः' इत्यभियुक्तोक्तेः ।

दयावीरा हिन्दुजातीयाः । यथा मम—

परिरक्षणस्य गोमातृधनस्य अवधारणे ।
प्राणा अपि तृणानीव दातव्या हिन्दुबन्धुभिः ॥

गोमातृधनस्य=गवां समूहस्य, न च गच्छन्तीति गौरिति व्युत्पत्ति-संहिष्णुतायामपि प्रशस्ता गमनकर्तृत्वस्य महिष्यादिसाधारणत्वादिति वाच्यम् । गवत्वावच्छेदकगोत्वस्य महिष्यादावभावत्वेनातिप्रसङ्गाभावात् । वृषभादौ तु गोत्वस्याभिव्यक्तत्वेऽपि दयादोषगमे शक्तिविरहात् । तृणा-भोगपुरमानतिष्टमिन्द्रियतृप्तता न दूषणमनुद्वेजकत्वात् । अत्र गाव आलम्बनम् । प्रतिदिनं सहस्रविधगवां वध उद्दीपनम् । तद्रक्षणप्रतिज्ञा-

करणमनुभाव । प्राणनैरपेक्ष्य गम्य-गर्वो व्यभिचारो ॥ युद्धवीर श्रीरामविक्रमादि । यद्यपि युद्धवीरो वीरा नातिरिच्यते । तथाप्यय-मुदाहरण ममैव—

किमह वर्णये वीर्यं रामविक्रमयोस्तयो ।
याभ्या जितौ महावीरो लकेश्वरशकेश्वरौ ॥

अत्रालम्बनादिविभावादय स्वयमवगन्तव्या । धर्मवीरो युधिष्ठिरादि । यथोक्त व्यासपादै ।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।
निदर्शन तयो साक्षाद् दुर्योधनयुधिष्ठिरौ ॥

उदाहरण यथा मम—

नास्था योगे नच वसुचये रम्यरामोपभोगे,
यद्यद्भाव्य भवतु सकल तत्स्वकर्मानुसारम् ।
एतत्प्रार्थ्य मम तु विबुधा भो मुधा वच्मि किंचिद्,
धर्मे श्रद्धा प्रसरतु सदा निश्चला निश्छला मे ॥

युधिष्ठिरस्योक्तिरियम् । योगश्चित्तवृत्तिनिरोध तथैव योगसूत्रात् । धर्मे=वैदिकधर्मे य 'सनातनमेनमाहुरित्यथर्वश्रुते सनातनधर्ममपि कथयति । सनातनत्वमत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम् । स च दशविधो मन्वादिषु द्रष्टव्य । वस्तुतस्तु वीरस्य बहवो भेदा अतएव पाण्डित्यवीरत्वात्त्यवीरादयोऽपि भवन्ति । तत्र पाण्डित्यवीरो यथा मम—

मयि कुर्वति शास्त्रार्थं चार्वाकस्तु भवत्यवाक् ।
जैन श्रयति मौनत्व बौद्धो बुद्धि विमुञ्चति ॥

चारु=लोकसम्मत वक्तीति चार्वाक । तन्मते—

'अङ्गनालिङ्गनाजन्य सुखमेव पुमर्थता ।
लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापर स्मृत ॥

जैन-बौद्धौ प्रसिद्धौ, यथावा—

असर्वगर्वहारके श्रुतिस्मृतिप्रचारके,
अनल्पकल्पनावति प्रजल्पतीह शंकरे ।

बृहस्पतिर्न जल्पति प्रसर्पतीव सर्पराट्,
भ्रमन्मुखश्च षण्मुखः चतुर्मुखश्च दुर्मुखः ॥

पूर्वपद्ये चार्वाकादिरालम्बनम्। सभादर्शनमुद्दीपनम्। शंकराचार्यत्वं कः सर्वविद्वत्वराजयोऽनुभावो गर्वो व्यभिचारी। प्रजस्थायमूह्यम्। स्वातन्त्र्यवीर प्रताप, तिलक, गांधि, जवाहरादिः। उदाहरणमस्मन्मित्रमथुराप्रसाद-दीक्षितस्य वीरप्रतापनाटके—

'यावन्मे धमनीमुखेषु रुधिरस्वेदोऽपि सन्तिष्ठते,
मांसं यास्यति निष्ठति वर्तचिदपि प्राणाः शरीरे स्थिताः।
तावन्म्लेच्छपते कथञ्चिदपि न प्राप्स्याम्यहं निघ्नताम्,
स्वातन्त्र्यस्य पदे समस्तवसुधा नेतुं यतिष्ये भृशम् ॥

मे=मम प्रतापस्याग्निजवाहरादेः। म्लेच्छपतेरकबराङ्ग्रेजादेः। निघ्नतामधीनताम्। स्पष्टमन्यत्। अत्राकबराङ्ग्रेजादिरालम्बनम्। तत्कर्तृक-सर्ववधनेच्छादिरुद्दीपनम्। भूमिस्पर्शपुरःसरं तदधीनत्वा-स्वीकारप्रतिज्ञानुभाव। समस्तवसुधाया स्वातन्त्र्यकरणगर्वो व्यभिचारी। समे-धामेयामुद्दिश्यतावच्छेदक स्वातन्त्र्यप्राप्तित्वमेव मेवेत्येकमेवोदाहृतम्॥२६॥

अब वीर रस का निरूपण करते हैं—गौरवर्ण इति—वीर रस का वर्ण गौर होता है, उत्साह इसमें स्थायीभाव है। और यह दान, दया, युद्ध और धर्मभेद से चार प्रकार का है। उदाहरण दुर्गाभ्युदय में—मनुष्यत्व-स्येति—अरे दानवापसद, तू मनुष्यत्व=(मनुष्य जाति) के अभिमान से स्त्रीत्व (स्त्रीजाति) को तृणवत् मानता है, मैं आज युद्धरूपी तकड़ी से निर्णय कर दूंगी कि दोनों में बड़ा कौन है। दानवीर बिरला, गोयनकादि। बिरला का उदाहरण—सजयतीति—बिरला श्रीयुगलकिशोरजी, धन्य हैं जिन्होंने दिल्ली में कई लक्ष रुपयों से बिरला-मन्दिर बनवाकर अपनी लक्ष्मी को सफल किया है। एवं कुरुक्षेत्र आदि पवित्र स्थानों में भी आपने बिरला-मन्दिर बनवाये हैं। गोयनका का उदाहरण—स गौ-रीति—वह सेठ गौरीदत्तगोयनका, धन्य है, जिसने दिल्ली के शतमुख

कोटि होमात्मक महायज्ञ में ब्राह्मणों को ढाई लाख रुपयों की सुवर्ण दक्षिणा दी। यह शतमुख कोटि होमात्मक महायज्ञ, दिल्ली के निगमबोध नामक यमुना-तट पर हमारे तत्वावधान में विक्रम सवत् दो हजार के माघ मास में हुआ था। यज्ञों में भूरि दक्षिणा देकर ब्राह्मणों को समृद्ध किया जाता है। स्वल्प दक्षिणावाले यज्ञ मृतयज्ञ माने गये हैं।

दयावीर हिन्दुजातीय हैं। उसका उदाहरण—अकिञ्चनस्येति—अत्यन्त दयनीय गोमाताओं के वध को हटाने में हिंदू भाइयों को अपने प्राण तृणवत् दे देने चाहियें। शङ्का—'गच्छति इति गौ' इस व्युत्पत्ति से भैंस आदि भी गौ हो सकती हैं। उत्तर—परन्तु उनमें गोत्व (गो-जातीयत्व) नहीं आ सकता। बैल आदि में गोत्व माने पर भी कोई क्षति नहीं। आलम्बनादि स्पष्ट हैं। युद्धवीर श्रीराम आदि हैं। यद्यपि युद्धवीर वीर से पृथक् नहीं तथापि स्वतन्त्र भी उदाहरण हो सकता है। किमहमिति—विश्वविदित उन श्रीराम और विक्रम के वीर्य=अद्भुत पराक्रमों का मैं क्या वर्णन करूं जिन्होंने लंकेश्वर (रावण) और शकेश्वर को क्षण में पराजित कर दिया।

धर्मवीर युधिष्ठिरादि हैं। जैसाकि भगवान् वेदव्यास ने कहा है—धर्म को नष्ट करने वाला नष्ट हो जाता है, और उसका रक्षक उसी से रक्षित किया जाता है। दोनों के उदाहरण दुर्योधन और युधिष्ठिर हैं, धर्मवीर का उदाहरण—नास्थायोग इति—यह युधिष्ठिर की उक्ति है। मेरी (युधिष्ठिर की) योग में आस्था नहीं, द्रव्य कमाने की कदापि इच्छा नहीं, और सुन्दर रमणी के उपभोग की भी अभिलाषा नहीं। यह जो कुछ स्वकर्तव्यानुसार हो रहा है, ठीक है। मैं सत्य कहता हूँ ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि निश्चल=दृढ और निश्छल (कपटरहित मेरी) श्रद्धा धर्म में सदा बनी रहे।

पाण्डित्यवीर का उदाहरण—मयि कुर्वतीति—मुझ शकराचार्य के शास्त्रार्थ करते हुए चार्वाक नास्तिक, बिलकुल अवाक् हो जाता है। जैन और बौद्ध इस विषय में प्रसिद्ध हैं।

दूसरे पद्य का अर्थ—अखर्वेति—समस्त विद्वानों के गर्व को चकनाचूर कर देने वाले श्रुति स्मृति के प्रवर्तक-प्रचारक और अपूर्व कल्पनाशालि श्री शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ करते हुए बृहस्पति भी बोलना नहीं चाहते। सहस्रमुखफणी दूर हट जाते हैं। स्वामी कार्तिकेय भग पड़ते हैं। भगवान् चतुर्मुख भी दूसरी तरफ़ मुख कर लेते हैं।

स्वातन्त्र्यवीर का उदाहरण—यावन्मे इति—जब तक मेरी नाड़ियों में रुधिर है, हड्डियों में मांस और शरीर में प्राण हैं तब तक म्लेच्छों के अधीन नहीं रहूँगा और सारी पृथ्वी को स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न करूँगा।

यहाँ अकबर और अंग्रेज आलम्बन विभाव हैं। उनसे अपने को जेल में डलवा देने की इच्छा आदि उद्दीपन विभाव हैं। उनकी अधीनता को न स्वीकार करने की प्रतिज्ञा अनुभाव है। समस्त पृथ्वी को स्वतन्त्र बना देना रूपी गर्व व्यभिचारी भाव है।

(भयानकलक्षणम्)

भयं यत्र भवेत्स्थायि स भयानक उच्यते ।
देवः कालोऽस्य घोरस्य सत्त्वादेर्दर्शनाद्भवेत् ॥२७॥

मनसो वैक्लव्यं भयम्। 'रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्' इत्युक्ते। अस्याभिनयप्रकारं भरत आह—'करचरणवेपथुस्तम्भ-गात्र-सङ्कोचहृदयकम्पेन। शुष्कोष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥' उदाहरणं मम—

श्येनमायान्तमालोक्य नभस्तः स्तब्धलोचनः ।
कपोतशावकः कश्चित् स्पन्दते स्म न किञ्चन ॥

कपोतशावकः=कपोतशिशु। श्येन=बाज पक्षिणम्, नभस्तो=नभस पञ्चम्यन्तमिदम्। आयान्तमालोक्य न स्पन्दते स्म=किंचिदपि न चचाल। स्पन्दिरकर्मकः तस्य च व्यापारे शक्ति फलस्य धात्वर्थतानवच्छेदकत्वात्। 'फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः' इति भूषणोक्तेश्च।

(शान्तरसलक्षणम्)

■ शान्तो यत्र निर्वेदः स्थायीभावः प्रकीर्तितः ।

देवो नारायणश्चास्य वर्णो रजतसंनिभः ॥३०॥

तत्त्वज्ञानादिजन्य समदृष्टित्वं निर्वेदः । उदाहरणं ममैव—

'शत्रौ मित्रे मुनौ म्लेच्छे लोष्ठे रत्ने गृहे वने ।

दुःखे सुखे तृणे स्त्रैणे समदृष्टि मनो मम ॥

समदृष्टौ सत्यपि सरिदिव चित्त प्रसीदति । प्रसन्नचित्तस्य परमात्मदर्शनम् । मुनौ=मननशीले महात्मनि, म्लेच्छे=यवनादौ, 'न म्लेच्छो यवनात्पर' इति स्मरणात् । लोष्ठे=लोहे 'तृज्वत्सूत्रभाष्ये-लुशीलोष्ठ लोह इत्युक्तेः । स्त्रैणे=स्त्रीसमूहे, स्पष्टमन्यत् । अत्र प्रपञ्च- सर्वोप्यालम्बन, तत्त्वज्ञानजन्यसर्वत्र साम्यमनुभाव । सत्यादय सचारिणः । केचिदत्र—

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात् ।

अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥

इत्याहुः । तदसत् नटे रसाभिव्यक्तेरस्वीकारात् । सामाजिकाना शमवत्त्वेन तत्र रसोद्बोधे बाधका भावात् । अतएव सङ्गीतरत्नाकरे

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन् ।

तदचारु यत कश्चिन्न रस स्वदते नट ॥

इत्यादिना नाट्येऽपि शान्तरसोऽस्तीतिव्यवस्थापितम् । ध्वन्यालोकलोचनेचापि 'नास्त्येव शान्तोरस' इति पूर्वपक्षीकृत्यावसाने मोक्षफलत्वेनास्य परमपुरुषार्थ निष्ठत्वात् सर्वरसेभ्य प्रधानत्वमितिसिद्धान्तितम् । एवमेव रसतरङ्गिण्या निरूपितम् । अतएव च शान्त-रस-प्रधानानां नागानन्द-प्रबोधचन्द्रोदयादीना नाटकत्व सर्वैः स्वीकृतम् । स्नेहो वात्सल्य मैत्र्यादयश्च एते तु रतेरेवविशेषा न रसा. । तत्राय विवेक — तुल्ययो प्रीति =स्नेह । तयोरेव निष्कामप्रीतिर्मैत्री । अवरस्य वरे प्रीतिर्भक्ति । सैव विपरीता वात्सल्य, सचेतनानामचेतनेप्रीतिरासक्ति । दशरूपककारस्त्वेवमाह—

'प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न दर्शिताः ॥'

भगवान् व्यासस्तु—एषु सख्यादिकं मेलयित्वा 'मल्लानामशनि'रिति प्रसिद्धपद्ये द्वादशरसानदर्शयत् । यत्तु भोजः—शृङ्गारप्रकाशनाम्नि ग्रन्थे 'शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनाम' इत्याह । तन्न । अनुभवसिद्धस्य चापला-पानर्हत्वादिति न्यायात्सर्वेषां रसानामनुभवसिद्धत्वान्मुनिसम्मतत्वाच्च । 'लाघुता तत्र कर्तव्या यत्रानुगमः क्रियते' इति पङ्क्ति-विंशतिसूत्र भाष्योक्ते-र्मुनिवचनपालनसमये उच्छृङ्खलताया अनौचित्यात् । एतेषां रसानां परस्परं केषांचित् सहाविरोधः, केषांचित् च विरोधः । तत्र वीरशृङ्गारयोः शृङ्गारहास्ययोः वीराद्भुतयोश्चाविरोधः । शृङ्गारबीभत्सयोः शृङ्गार-करुणयोः वीरभयानकयोः शान्तरौद्रयोः शान्तशृङ्गारयोश्च विरोधः । अतोऽपि रस परिपोषकामेन कविना विरुद्धरसानां निबन्धनं न कार्यम् । 'प्रयत्नोऽत्री रसौ द्वौ द्वौ तन्मतर्व विवर्जयेत्' इति न्यायात् । चित्तोत्कर्षा-धानाय एक एव, रसोऽङ्गीकर्तव्यः । यदुक्तं ध्वनिकृता—'प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने । एको रसोऽङ्गीकर्तव्यः तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥' प्रबन्धानाम्=महाकाव्यानां नाटकादीनां च, तेषामिति=रसानाम् । स्पष्ट-मन्यत् । अङ्गीप्रधानो यथा नैषधे शाकुन्तले च शृङ्गारः । माघे दुर्गाभ्युदये च वीरः । रामायणे उत्तररामचरिते च करुणः । महाभारते प्रबोधचन्द्रोदये च शान्त एवमन्यत्र । एषां रसानां प्राधान्ये ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम् । परस्याङ्गत्वेन गुणीभावे रसालंकारत्वमिति । 'भिन्नो रसाद्यलंकारादलं-कार्यतया स्थितः' इति मम्मटादि-सिद्धान्तात् । अत्रेदमवशिष्यतेऽवश्यवक्त-व्यम्—एतया नवरस्या जनिताः चित्तोऽवस्था भवन्ति । द्रुतिर्विस्तारो विकासश्च । शृङ्गारकरुणशान्तेभ्यः चित्तस्य द्रुतिर्भवति । वीररौद्र-बीभत्सेभ्यो विस्तारः । हास्याद्भुतभयानकेभ्यो विकास इति ॥२०॥

शान्त रस का लक्षण—सशान्त इति—जिसका स्थायी भाव निर्वेद हो वह शान्त रस होता है। इसका देवता नारायण और वर्ण कुन्द है। तत्त्वज्ञान आदि से उत्पन्न विषयों में वैराग्य अथवा सर्वत्र समदृष्टि होना

निर्वेद कहलाता है। उदाहरण—'शत्रौ मित्र इति—शत्रु और मित्र मे, पवित्र मुनि और म्लेच्छ मे, लोहे और रत्न मे, घर और वन मे, सुख और दुःख मे, तृण (तिनके) और स्त्रीसमूह मे, मेरा मन अब सब मे समान हो गया है। यहाँ सभी प्रपञ्च आलबन है, तत्त्वज्ञान से सब मे समान होना अनुभाव है, बुद्धि आदि सचारी भाव हैं। कुछ विद्वान् नट मे शम (शान्ति) का अभाव मान कर आठ ही रस मानते हैं। शान्त को रस नही मानते। परन्तु यह मत ठीक नही क्योकि नट मे तो कोई भी रस नही रहता। सहृदयो के हृदय मे रत्यादि रहते है, शमवत्ता भी रहती है अत. शान्त रस भी स्वीकरणीय है। सगीतरत्नाकर मे भी यही निर्णय किया है। अभिनवगुप्ताचार्य ने अपने लोचन मे भी—शान्तरस है ही नही, यह पूर्व पक्ष ले करके अन्त मे शान्तरस को मोक्षफल के देने वाला होने से सब रसो मे प्रधान माना है। सभी तो शान्तरस-प्रधान नागानन्द और प्रबोधचन्द्रोदयादि को सभी ने एकमत से नाटक माना है। स्नेह, वात्सल्य, मैत्री, आबन्ध, ये रति के ही भेद हैं, रस पदवाच्य नही हो सकते। यही बात दशरूपककार ने मानी है। भगवान् व्यास ने 'मल्लानामशनि' इस प्रसिद्ध पद्य मे बारह रस माने हैं। भोज—शृङ्गारप्रकाश नामक ग्रन्थ मे केवल शृङ्गार को ही रस मानते हैं। यह उनकी उच्छृङ्खलता है, क्योकि एतच्छास्त्राचार्य भरत मुनि ने नौ रस स्वीकार किये हैं। इन सब रसो का परस्पर मे किसी के साथ मेल है और किसी के साथ विरोध। जैसाकि मूल मे स्पष्ट है। किसी भी एक रस को पुष्ट करने के लिये कवि को विरोधी रसो का निबन्धन नहीं करना चाहिये और ध्वनिकार के अनुसार नाना रसों मे एक ही रस को अङ्गी=प्रधान रखना चाहिये। जैसे नैषध और अभिज्ञान-शाकुन्तल मे शृङ्गार प्रधान है, माघ काव्य और दुर्गाभ्युदय नाटक मे वीर रस प्रधान है, रामायण और उत्तररामचरित नाटक मे करुण रस प्रधान है, महाभारत और प्रबोधचन्द्रोदय नाटक मे शान्तरस प्रधान है इसी तरह औरो मे भी जानना चाहिये। इन रसो की जहाँ प्रधानता होती है वहाँ ये ध्वनि,

जहाँ अन्य का अङ्ग होने से गौण हो जाते हैं वहाँ ये 'रसवदलंकार' माने जाते हैं। इन नौ रसों की तीन ही अवस्थाएं होती हैं—द्रुति, विस्तार और विकास। शृङ्गार, करुण और शान्त से चित्त की द्रुति। वीर, रौद्र और बीभत्स से विस्तार। हास्य, अद्भुत और भयानक से विकास॥२०॥

(स्थायिभावभेदाः)

प्रीतिहासौ तथा शोकः क्रोधोत्साहभयानि च।
जुगुप्सा विस्मयावेवं निर्वेदश्चेति ते नव ॥२१॥

स्थायिलक्षणमुक्तं दशरूपके—विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः। आत्मभावं नयत्यन्यान्स्थायी भावः स उच्यते॥ स्थायित्वं वासनात्मतया यावद्रसं वर्तमानत्वम्। तत्र—'प्रीतिर्भवति देवादौ मुनौ पुत्रे नृपे गुरौ। शृङ्गारस्तु भवेत्तत्र या कान्ताविषया प्रीतिः॥ कान्ताविषया प्रीतिविषयानन्दः। केचन प्रीत्यानन्दोत्फुल्ललोचना एवमामनन्ति—'प्रीत्यानन्दो महानेव यत्रा नन्दात्' तत्र मालतीमाधवे प्रीतिः। लटकमेलके हासः। उत्तररामचरिते शोकः। मुद्राराक्षसे क्रोधः। वेणीसंहारे दुर्गाभ्युदये चोत्साहः। शाकुन्तलपञ्चमाङ्के भयम्। मालत्याः श्मशाने जुगुप्सा। उत्तररामचरित-सप्तमाङ्के विस्मयः। नागानन्दे शम इति॥ अत्रैवमपि भरतेनोक्तं बोध्यम्—बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु। स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः॥२१॥

स्थायी भाव के प्रीत्यादि नौ भेद हैं—प्रीतिहासाविति। स्थायी भाव का लक्षण दशरूपक में दिया है—विरुद्धैरविरुद्धैरिति—जो विरोधी तथा अविरोधिभावों से विच्छिन्न नहीं होते प्रत्युत परिपुष्ट होते हैं, और अन्यों को अपने अनुरूप बना लेते हैं वे स्थायी भाव कहलाते हैं। जैसे—मालती-माधव में प्रीति प्रधान है बीच-बीच में क्रोध जुगुप्सादि भी वर्णित हैं परन्तु प्रीति उनसे विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न नहीं होती। अन्य सब वहाँ संचारी हैं। जिसका अधिक चमत्कार हो वही स्थायी है शेष सब संचारी।

रसो भावस्तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ ।
सन्धिश्च शबलत्वं च सर्वे चैते रसा मताः ॥३२॥
शृङ्गारादौ रसः प्रोक्तो देवादिविषया रतिः ।
भावस्तयोरनौचित्यादाभासौ परिकीर्तितौ ॥३३॥

तयोरसभावयोरनौचित्याद्रसाभासो भावाभासश्च भवतः । अनौचित्यन्तु सहृदयव्यवहारतो ज्ञेयम् । यत्र तेषामनुचितधीः । सा च शृङ्गारस्य परपुरुषगतत्वेन स्त्रियः, परस्त्रीगतत्वेन पुंसः । गुरुवृद्धपित्राद्यालम्बनतया हासस्य । वीतरागाद्याश्रयतया करुणस्य । गुरुवृद्धाद्यालम्बनतया रौद्रवीरयोः । वीरगतत्वेन भयानकस्य । ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनतयाऽद्भुतस्य । चाण्डालादिगतत्वेन शान्तस्येति । विनश्यदवस्थोभावो भावप्रशमः, उत्पत्स्यमानो भावी भावोदयः, एतयोरुत्पत्तिकालावच्छिन्नयोरेव चमत्कारित्वं ननु स्थितिकालिकयोः विरुद्धयोर्भावयोः परस्परस्पर्धाभावः सन्धिः । एककालावच्छेदेन समकक्षयोगत्वाद इति यावत् । पूर्वपूर्वोपमर्दनवशाद्बहूनां भावानामुत्पत्तिर्भावशबलता । एकचमत्कृति-जनक-ज्ञानगोचरत्वमिति भावः । सर्वे चैते रसनधर्मयोगाद्रसपदवाच्याः । स्थायिनां त्वेते न सम्भवन्ति । तेषां सन्ततमविच्छेदात् । देवादीत्यादिपदान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया । क्रमेणोदाहरणानि—

'दिवि वा भुवि वा वासो नरके वा नरकान्तक ।
त्वदीय-चरणौ किन्तु मरणेऽपि स्मराम्यहम् ॥

दिवि = स्वर्गे, नरके रौरवादौ, ननु स्वर्गनरकयोः सद्भावो निष्प्रमाण इति चेन्न । 'सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोक.' । भूमेर्लक्षक्रोशोपरीति तदर्थ । 'हर्षिमिरेके स्वरितः सचन्ते नेत्त्विम्हापन्त्यो नरक पताम: ॥ 'ते त भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, सकरो नरकायैव' इत्यादि परः शतश्रुतिस्मृतिषु स्वर्गनरकयोः स्पष्टतरमभिधानात् । न चैवमीश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यदोषप्रसङ्गो यतस कंचित्स्वर्गं गमयति कंचिच्च नरकमिति वाच्यम् । तस्य कर्माधिष्ठातृत्वेन प्राणिनां कर्मानुसारं स्वर्गनरकप्रापकत्वात्'

सांख्यसूत्रकारोऽप्याह—'कर्मवैचित्र्यात्सृष्टि-वैचित्र्यमिति । कर्मधर्माधर्मा-श्रिति तद्भाष्यम् । 'जीवकृतधर्माधर्मापेक्ष एव तत्तत्फलानि विषमं विसृजते पर्जन्यवदीश्वर इति च शारीरकभाष्यम् । मरणे—मरणसमये, मरणं च देहस्य प्राणवियोगः । 'न जीवो म्रियते' 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' इत्यादि-श्रुतिस्मृतिभ्यां जीवस्य नित्यत्वात् । स्पष्टमन्यत् । अत्र पद्ये भक्तस्य भगवच्चरणस्मरणाभिलाषो भगवति परानुरक्तिं व्यनक्ति । तत-श्चात्र देवविषया प्रीतिर्भावो व्यङ्ग्यः । रसचमत्कारसत्त्वेऽपि भावचमत्कार-प्रकर्षोद्भावकत्वनिबन्धम् । रामानुगतचित्तप्रवृत्तभृत्यस्यैव व्यज्यमानतास्य प्राधान्यात् । भावशान्त्यादिष्वपि भावस्यैव प्राधान्यं न तु शान्त्यादी-नां भावचर्वणायामेव चमत्कारोदयात् । मुनिविषया प्रीतिर्मम लघुरामायणे

श्रवणाञ्जलिपुटपेयं चक्रे रामायणामृतं यः ।
मुनिवर्यं कविधुर्यं तं वन्दे वाल्मीकिं नम्रतया ॥

'अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

इयं गुरुविषया प्रीतिः । गुरुमाहात्म्यं श्रुतिराह—'यस्य देवे परा भक्ति-र्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

नृपविषया यथा मम—

'एकभूपस्य निर्माणे सर्वं भूपाः ददाति यः ।
कविकल्पतरोर्भक्तः प्रशस्यः कस्य नास्ति सः ॥

कविकल्पतरुः कविजनाश्रयः । 'भूपास्तु विबुधाश्रयाः सन्ति न सन्ति भुवि भूभृतः' इत्यभियुक्तोक्तेः । पुत्रादिविषया यथा महावीरचरिते—'एह्येहि पुत्र रघुनन्दन पूर्णचन्द्र, जिघ्रामि मूर्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम् । आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि, वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥'

इयं हि रामं प्रति वात्सल्यरूपा प्रीतिः । परपुरुषविषयक-शृङ्गाराभासो यथा मम पुष्पाञ्जलिशतके—

इयमद्भुतयौवना नव प्रमदाभिः सह पुष्पकेसरा,
सरसानुगतिस्पृहे भुवं कुसुमैस्ते नव शनैः पदं विदु ।

हे कमलनेत्र सुरत्राण, इद स्वीयमद्भुतयौवन प्रमदाभिरस्माभि सह नय=सफलय, परिवर्तिनि संसारे सुखश्च प्रेम्ण पर सुख न वर्तते।

अत्र परपुरुष सुरत्राण प्रति दानववधूना प्रीतेरनुचितत्वेनानुभय निष्ठत्वेन चाभासत्वम् ।

परस्त्रीविषयकशृङ्गाराभासो यथा प्रसन्नराघवे—

मन्दोदरीमपि विमुञ्चति राज्यमेतत्
प्रत्युप्यत तव पदाब्जतले करोति ।
किं जल्पितेन बहुना सुमुखि त्वदर्थे
स्वान्युच्छिनत्त्यपि शिरांसि पुनर्दशास्य ॥

सीतां प्रति रावणस्योक्तिरियम् । अत्र प्रीते परस्त्रीविषयत्वादनुभय निष्ठत्वाच्च शृङ्गाराभासोऽयम् । न चैवं भवत शृङ्गारस्योदाहरणमपि साहृवेव, प्रीतेरुभयनिष्ठत्वेऽपि राधाकृष्णयोरविवाहेन पतिपत्नीत्वाभावादिति वाच्यम् । तस्य प्राकृतस्त्रीपुरुषविषयत्वेन विष्यशक्तिशक्तिमद्राधा कृष्णविषयत्वाभावात् । एव भागवतोक्त गोपरमणीरमणमपि भग वत्कृष्णस्य न दुष्यति । ईश्वरस्य न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथेति तत्रैव समाधानात् । 'निष्प्रायदङ्ग्रिनि रसे कविभि परोढा तद्गोकुलाम्बुजदृशा कुलमन्तरेण' त्यभियुक्तोक्तेश्च । अतएव रासलीलादिसवर्णनीय सरससूक्ति समुद्गर्ति—'वाङ्मयेषु मधुरा हरिगाथास्तत्र कृष्णचरितान्यमृतानि । तेषु च प्रमददिव्यधुनि मे रासकेलिमनुमज्जति चेत ॥ श्रीरामादिभिस्तु मर्यादापुरुषावतारत्वात्तया न कृतमिति कृत बहुना ।

यच्च साहित्यदर्पणकारेण तिर्यगविषये रसाभासत्वमुक्त तन्न युक्तम् । काव्यप्रकाशकृतो मम्मटस्य—'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' इति भयानकरसस्य, 'मित्रे क्वापिगते' इति विप्रलम्भ शृङ्गारस्य चोदाहरणाभ्यां विरोधात् । न खल्वत्र मम्मटोक्ति विरुद्धमाद्रियते बृहस्पतेरपि। अगम्यायाः प्रीतिर्भावाभासो यथा—

'न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित् ।
इय सन्मुखी सन्मुखे दृश्यमाना लवङ्गी कुरङ्गी दृगङ्गी करोतु ॥

कांचन यवनकन्यामभिलषतो ब्राह्मणस्य उक्तिरियम् । भावस्य शान्ति-र्यथा ममच्छायापद्ये—

पादानतं मामालोक्य मुञ्च कोपं त्वमूरुहक् ।
इत्युक्त्या तथापि हि मुक्तमुक्तं न किञ्चन ॥

राधां प्रति कृष्णस्योक्तिरियम् । अयमधु ह्रोक्तमुक्तं स्थवतं न विमत्युक्तं स्पष्टमन्यत् । मनागुन्मीलनेनोत्पत्तिकालावच्छिन्नस्य ईर्ष्याख्य-संचारिभावस्य शमो व्यङ्ग्यः । भावोदयोऽपि यथा ममैव—

राधा प्रसाद्यमानापि नैव हर्षमदर्शयत् ।
यदा कृष्णो गन्तुमैच्छत्तदातिविललाप सा ॥

अत्र विषादस्योदयो व्यङ्ग्यो न तु सत्यपि कोपशान्तिरचमत्कारित्वात् । भावस्य सन्धिरपि मम च्छायापद्ये—

श्रीकृष्णचन्द्रमालोक्य मनो वृत्त्यापि दुर्लभम् ।
मन्मनो मन्मथाक्रान्तं सुखं दुःखं च विन्दति ॥

अत्र लोकोत्तरगुणस्य श्रीकृष्णस्य दर्शन-जन्ययोः हर्षविषादयोः सन्धिर्व्यङ्ग्यः । भावस्य शबलता यथा मम—

दयितोऽत्यन्तकुपितो मतो मतं जनो रिपुः ।
मन्मथः प्रियो नाथः किं करोम्यद्य हे सखि ॥

अत्र मयघन्ताशङ्कीसुमयानां शबलता । इति द्वितीयो बिन्दुः ॥२३॥

रसो भाव इति—रसभाव आदि सभी रसनधर्मा होने से रस माने गए हैं। शृङ्गार आदि रस कहलाते हैं। देवादि-विषयक प्रीति भाव होता है। उन दोनों की अनुचित प्रवृत्ति से यथाक्रम रसाभास और भावाभास होता है। जहाँ सहृदयों को अनुचित प्रतीत हो वहीं अनौचित्य होता है। परपुरुष अथवा परस्त्री में प्रेम शृङ्गाराभास होता है। गुरु, नृप, पिता आदि के विषय में हँसना, ज्ञानी पुरुष से करुणा, गुरु आदि में रोष, वीर पुरुष से भय, इन्द्रजाल में आश्चर्य, चाण्डाल में शान्ति, आभास है।

प्रशम और उद्वेग ये दोनो उपशित-काल मे ही चमत्कार-जनक होते हैं। मन्ति=दोनों का एक काल मे आस्वाद। धन्यता=एक चमत्कारजनक ज्ञानशालिता। ये सभी रसत्वयोग से रस कहलाते हैं। स्थायिभावो मे उनकी निरन्तर स्थिति रहने से प्रशमोद्वेगादि नहीं रहते। देवादि पद मे मुन्यादि लेने चाहिए। क्रम से सब के उदाहरण—दिवि वेति—हे शिवजी, मेरा रहना चाहे स्वर्ग मे हो चाहे नरक मे, कोई परवाह नहीं, किन्तु मरण-समय मे तुम्हारे चरणो की स्मृति अवश्य बनी रहे। स्वर्ग और नरक की सत्ता मे श्रौत और स्मार्त सैकड़ो प्रमाण हैं जो मूल मे दिखाये गए हैं। जीव अपने-अपने कर्मानुसार स्वर्ग और नरक मे जाते हैं, इसमे ईश्वर का कोई दोष नहीं। न वह किसी का मित्र है न शत्रु।

मरण यहा शरीर का प्राणो से वियोगमात्र ग्राह्य है न कि नाश क्योकि मूलोक्त श्रुति-स्मृतियो से जीव की नित्यता सिद्ध है। इस पद्य में भक्त का भगवच्चरणानुराग व्यक्त होता है। अत देवादिविषयक भाव व्यङ्ग्य है। जिस तरह भृत्य के विवाह मे राजा के रहने पर भी भृत्य की ही मान्यता होती है उसी तरह ऐसे स्थलो मे रस के रहने पर भी भाव का ही प्राधान्य होता है। भावशान्त्यादिकों मे भी यही जानना। मुनिविषयक प्रीति का उदाहरण—श्रवणाञ्जलीति—जिसने कानरूपी अञ्जलि के पुट से पेय (पान करने योग्य) रामायणरूपी अमृत पिलाया, उस कवीश्वर मुनिवर्य वाल्मीकि को शतशः प्रणाम। गुरु-विषयक प्रीति का उदाहरण—अज्ञानेति—जो ज्ञानरूपी सलाई से अज्ञानान्धो के नेत्र खोलता है उस गुरु के लिए शतशः प्रणाम।

गुरु की महिमा अनेक श्रुति-स्मृतियो मे गाई हुई है। जिस व्यक्ति की देवता मे तथा गुरु मे समान निष्ठा होती है वही शास्त्रो का मर्मज्ञ विद्वान् हो सकता है। जो माता-पिता तथा गुरु का भक्त है, वही विद्वान् आयुष्मान् और यशस्वी बनता है। नृप विषयक प्रीति का उदाहरण—एकश्लोकस्येति—जो राजा भोज, एक श्लोक बनाने वाले कवि को भी लक्ष मुद्रा (रुपये) दे देता था, वह कवियो का आश्रय भोज आज किसके

गुण से प्रशस्य नहीं, धनी से प्रशंसनीय है। नृपस्तु—नृप वही होता है जो विद्वानों का सेवक हो, अपने ही आमोद-प्रमोद में मस्त रहने वाला नृप नहीं कहलाता। पुत्रादि-विषयक प्रीति (वात्सल्य) का उदाहरण एह्येहि पुत्रेति—हे पुत्र राम, मैं तुम्हें देखकर प्रसन्न हूँ तुम्हारे शीर्ष को चूमता हूँ, तुम्हारे चरणों का ध्यान करता हूँ, तुम खुश रहो। परपुरुष-विषयक का उदाहरण—शृङ्गाराभास इदमद्भुतेति—यह सुरतान के प्रति दानव स्त्रियों की उक्ति है।

पर-पुरुष के विषय में होने से यह शृङ्गाराभास हुआ। परस्त्री-विषयक शृङ्गाराभास का उदाहरण प्रसन्नराघव में देखिये—मन्दोदरी-मयीति—यह सीता के प्रति रावण की उक्ति है। हे सीते, मैं तेरे लिये अपनी सर्वाङ्गसुन्दरी पटरानी मन्दोदरी को त्याग सकता हूँ, सार्वभौम राज्य को तेरे चरणों में अर्पित कर दूं, अधिक क्या कहूँ, तू कहे तो अपने दस सिरों को भी तेरे चरणों में डाल दूं पर मुझे स्वीकार कर। यह सीता के प्रति रावण का प्रेम, अनुचित अननुरूपनिष्ठ होने से शृङ्गाराभास है।

शंका—फिर तो माधवे संयोग-शृङ्गार का उदाहरण भी गलत है क्योंकि श्रीराधा और श्रीकृष्ण का विवाह कहीं भी नहीं लिखा गया फिर उनमें पति-पत्नीत्व कैसे? उत्तर—वे दोनों प्राकृत स्त्री पुरुष नहीं हैं, यह भी नियम साधारण स्त्री पुरुषों का है, वे ईश्वर हैं, ईश्वर पर मानव नियम लागू नहीं होते। इसीलिये उनके रासलीलादि कृत्य भी पवित्र माने गए हैं। श्रीराम ने ईश्वर होते हुए भी ऐसे कृत्य नहीं किये क्योंकि वे मर्यादा स्थापन के लिए अवतरित हुए थे। ग्रंथकार ने तिर्यग् विषय में रसाभास माना है वह मम्मट से विरुद्ध है अतः ठीक नहीं। अन्यत्र में प्रीति भावाभास होता है। इसका उदाहरण—न याचे इति—यहां एक भक्तकन्या में बाल्य-युवा की प्रीति है इसलिये भावाभास है। भावशान्ति का उदाहरण—पादानतमिति—यहां बाष्पमोचन से ईर्ष्याजन्य व्यभिचारी भाव का रूप अनुरूप है। यह राधा के प्रति श्रीकृष्ण की उक्ति है।

भावोदय का उदाहरण—बहु प्रमादेति—बार-बार प्रणय करने पर

भी जब श्रीराधाजी प्रसन्न न हुईं तब भगवान् कृष्ण चल पड़े और श्रीराधा खूब रोने लगी। यहां विषाद का उदय-व्यङ्ग्य है, कोप शान्ति नहीं क्योंकि वह चमत्कारी नहीं। भाव की सन्धि का उदाहरण—श्रीकृष्णचन्द्रमिति—मन से भी दुर्लभ (शरीर की तो बात ही क्या) श्रीकृष्ण के दिव्य रूप को देख कर मेरा मन अत्यन्त उत्कण्ठित है (प्राप्त्याशा से) सुख और अति दुर्लभ होने से दुःख प्राप्त कर रहा है। यहां हर्ष और विषाद की सन्धि है। भाव की शबलता का उदाहरण—दयित इति—एक गोपी कहती है कि हे सखि! बतला क्या करूं? मेरा पति, मेरे ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध है, मेरा मन स्वतः चञ्चल है, मेरे घर की स्त्रियां भी मुझसे नाराज हैं, और मेरे मन को श्रीकृष्ण ने—मथित कर डाला है। यहां पति से भय, मन की चपलता, घर की स्त्रियों से शंका और श्रीकृष्ण सम्बन्धी प्रबल प्रेम से उत्सुकता रूपी भावों की शबलता (सम्मिश्रण) है।

इति साहित्यबिन्दु के द्वितीय बिन्दु की हिन्दी टीका॥



अथ तृतीयो बिन्दुः

(दोष-सामान्यलक्षणम्)

काव्यापकर्षका दोषाः काव्यज्ञैः समुदीरिताः ।
ते मयापि प्रदर्श्यन्ते छात्रबोध-विवृद्धये ॥१॥

रसोत्पत्ति-प्रतिबन्धकत्वेन काव्यापकर्षकत्वं दोषसामान्यलक्षणम् । रसशब्देन रस्यते आस्वाद्यते इति व्युत्पत्त्या रसाभासादीनामपि ग्रहणम् । प्रतिबन्धकत्वं च क्वचित्साक्षात् सम्बन्धेन क्वचित्परम्परासंबन्धेन दोषश्च दूषयति काव्यमिति व्युत्पत्त्या । न च 'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः' इति वामनोक्तेः प्रथमं गुणनिरूपणमेवोचितमिति वाच्यम् । दोषसत्त्वे गुणादेरकिंचित्करत्वात् । दोषश्च सर्वात्मना त्याज्यः । यथाह दण्डी—'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन । स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् । दुष्टं दोषः । नपुंसके भावे क्तः' । सर्वशरीरं सुन्दरमपि एकावयवनिष्ठेन कुष्ठविशेषेण दुर्भगं भवतीति दृष्टान्तार्थः । भोजोऽप्याह—'दोषाः पदानां वाक्यानामर्थस्य च रसस्य ये । हेयाः काव्ये कवीन्द्रैस्ते सर्वथा विदुषां मते ॥' अपरिकाव्ये पदनिष्ठा वाक्यनिष्ठा अर्थनिष्ठा रसनिष्ठाश्च दोषा भवन्ति । तेऽवश्यं वर्जनीयाः । तथापि सर्वथा निर्दुष्टकाव्यस्यासम्भव एव यथेदमुच्यतेऽस्माभिः । 'सन्ति दोषा शतं माघे रघुवंशकिरातयोः । नैषधे च महाकाव्ये नवीनेषु तु का कथा ॥' 'काव्यस्य गुणदोषाणामाकरः कथ्यते बुधैः । नैषधं तत्र तेऽस्माभिः प्रदर्श्यन्ते यथामति ॥

पहले बिन्दु में काव्य का स्वरूप और उसके भेद, दूसरे में तद्गत शब्द और अर्थ का निरूपण हो चुका है। अब तीसरे में दोषों का निरूपण करते हैं—काव्येति—काव्य के अपकर्षक दोष कहे जाते हैं । रसेति—रस और रसाभास आदि की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होकर जो काव्य का अपकर्ष करे वह दोष कहलाता है । जैसाकि उसकी व्युत्पत्ति है

'दूषयन्ति काव्यमिति दोष ' जो काव्य को दूषित करे वह दोष है। रस शब्द से रस के अतिरिक्त रसाभास, भाव और भावाभास भी ग्राह्य है। रस की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध तीन प्रकार से सभव है—एक तो रसास्वाद मे रुक जाने से, दूसरे रस के उत्कर्ष की किसी विघातक वस्तु के बीच मे पड जाने से, तीसरे रसास्वाद मे विलम्ब करनेवाले कारणो के उपस्थित होने से। इनमे से कोई भी लक्षण जिसमे मिले वही दोष कहलाता है। रस की रुकावट कही पर साक्षात् सबन्ध से होती है, कही पर परम्परा-सबन्ध से। प्रश्न—तब नीरस काव्यो मे कोई दोष न होना चाहिये, क्योकि वहा रस ही नही ? उत्तर—शीघ्र-प्रत्यय-विघातक दोष वहा है इसलिए वहा भी दोष होता है। दोष सर्वथा हेय हैं। जैसाकि दण्डी ने कहा है—तदल्पमपीति—जैसे अतीव सुन्दर शरीर एव फोडे या कुष्ठ से अरमणीय हो जाता है। वैसे दोष काव्य मे अल्प भी क्षम्य नही है, यहा दुष्ट शब्द दोष का बोधक है इसमे क्त प्रत्यय नपुसक और भाव मे हुआ है। भोज ने भी यही माना है कि काव्य मे पद-दोष, वाक्य-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष होते है। ये सभी दोष अन्य विद्वानो ने भी हेय माने हैं। तो भी सर्वथा दोषरहित काव्य का होना नितान्त असंभव है। जैसाकि हमारा मत है—सन्तिदोषा इति। सैकडो दोष महाकाव्य माघ, रघुवश, किरात और नैषध मे मिलते हैं, नवीनो की तो बात ही क्या है। नैषध तो काव्य-सबन्धी दोष और गुणो का आकर (खजाना) ही माना जाता है। पर वे आज तक किसी ने भी नही दिखाये थे, अब दिखाये जाते हैं ॥१॥

(दोषभेदा)

कष्टाप्रयुक्त-सन्दिग्ध-व्यर्थाश्लीला प्रतीतकाः ।
असाध्यवाचकक्लिष्टाः पदे दोषा नवोदिताः ॥२॥

कष्टं श्रुतिकटु यथा नैषधे—

'हीणा च हृष्टा च बभाण भैमी ।'

'प्रियां प्राह्णेशर्मी कृत्वा निर्यन्त्याणिना सखीम् ।
कराभ्यां पृष्ठगः तस्यास्त्यगिमीलद्दसौ दृशौ ॥'

'कटाक्षपातस्तत्र कीकटाधिपः ।'

इत्यादिषु पद्यांशेषु माधुर्यगुणस्य शृङ्गारस्य प्राधान्यात्तत्प्रतिकूला रचना कठोरवर्णघटितत्वात् । घोर-बीभत्स-रौद्र-रसेषु तु कठोरवर्णविन्यासो गुण इति बोध्यम् । तथा नैषध एव—

'अवोचत तमस्पर्शो निषधानामधीश्वरः ।
तदपाङ्गचलत्तारामत्कारवशीकृतः ॥'

ततः = कटाक्षविक्षेपानन्तरं, नलो दमयन्तीमवोचत, तस्या अपाङ्गे चलन्त्याः तारायाः = कनीनिकाया चमत्कारस्वरूपो मत्कारः तेन वशीकृत. ।

अत्र शृङ्गारगुणे माधुर्ये इच्छत्यपि समाससत्ता श्रुतिदोषमावहति । मसृणतरवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना इति तत्राभिधानात् ।

अप्रयुक्तं—तथाम्नातमपि कविभिर्नादृतम् । यथा नैषधे—

'मुखमयं पद्म प्रिये तावकम् ।'

हे प्रिये ! अयं पद्मः तावकं मुखमित्यन्वयः । अत्र पद्मशब्दोऽमरादिभिः कोशकारैः प्रयुज्यमानतावच्छेदकरूपेण पुंसि आम्नातोऽपि कविभिर्न प्रयुज्यते । ससंशयं—अवमृष्टार्थ-सन्देहजनकम् । यथा नैषधे—

स्मितेन गौरी हरिणी दृशेयम् ।
वीणावती सुस्वरकण्ठभासा,
हैमेव कायप्रभयाङ्गनौघैः,
सन्दीप्यते वाभाति मेनकापि ॥

इयं = दमयन्ती गौर्यपि पंचमपारसोऽपि पार्वत्यादयोऽपि, अत्र मेनकाभिनि दिव्य अनुपदं वेति सन्देह. । तात्पर्योपयिसम्बोऽत्र दूषण ताबीजम् ।

र्यर्थं—प्रकृतानुपयुक्तं पादपूरणैकप्रयोजनम् । यथा नैषधे—

'येषु येषु सरसा दमयन्ती भूषणेषु यदिवापि गुणेषु ।'

अत्र यदोऽशब्दो व्यर्थो केवलेनैव तत्सेव्टसिद्धेः । प्रयोजनानुसन्धानरूपत्वा दूषकताबीजम् । न वाक्यार्थविवरणस्यमात्राङ्गतोयम् । पादपूरणैक-

प्रयोजनस्यापि निष्फलत्व-विरहात्। 'मितं च सारं च वचो हि वाग्मिते'ति नैषधपद्ये तु चादयः समुच्चयार्था न तु व्यर्था इति बोध्यम्।

अश्लीलमसभ्यार्थव्यञ्जकम्। तच्च त्रिविधम्। अमङ्गल=व्रीडा जुगुप्सा भेदात्। त्रयाणामेवोदाहरणानि नैषधे, तत्रामङ्गलस्य यथा—

तव वर्त्मनि वर्तता शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥

हे वयः, पक्षिन्हंसेत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्। अत्र तव वर्त्म शिवं निवर्तता निवर्तंयतु। अन्तर्भावितण्यर्थो वृत्तिः। सत्वं त्वरितं मा आगम इतिच्छेदे-ऽमङ्गलव्यञ्जकता। व्रीडाया यथा—

'संभुज्यमानाऽद्य मया निशान्ते स्वप्नेऽनुभूता मधुरा धरेयम्।'

संभुज्यमाना=कृतोपयोगा, स्पष्टमन्यत्। अत्र संभोगशब्दो व्रीडा व्यनक्ति। जुगुप्साया यथा—

'कलाकलापं किल वैधवं वमत्।'

वैधवम्=चान्द्रमसं, कलाकलापम्=ज्योत्स्नासमूहं, वमत्=मुञ्चत्। अत्र वमत्शब्दो घृणां व्यनक्ति। त्रिष्वपि श्रोतुर्वैमुख्यं दूषकताबीजम्। अप्रतीत-मेकशास्त्रमात्रप्रसिद्धम्। यथा नैषधे—

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये।'

ईशस्य यदणिमलक्षणमैश्वर्यं, तस्य विवर्तोऽतात्त्विकोऽन्यथाभावो जातो मध्यभागो यस्याः तत्सम्बुद्धौ हे कृशोदरीत्यर्थः। अत्र विवर्तशब्दो वेदान्त-शास्त्रे प्रसिद्धो नान्यत्र। 'अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः।' अस्य विवरणं मदीय वेदान्तसारटीकायां सारबोधिन्यां द्रष्टव्यम्। अत्र सहृदयानभिज्ञस्यार्थानुपस्थितिर्दूषकताबीजम्।

व्याकरणान्वाख्येयत्वं पुण्यजनकतावच्छेदकधर्मवत्त्वं वा साधुत्वं तद्विरुद्धमसाधुत्वम्। असुरादिवत् नञो विरोधार्थकत्वात्। अतएव 'समानायामर्थावगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च शब्दैर्धर्मं इति भाष्यम्। 'वाच-कत्वाविशेषेऽपि नियमः पुण्यपापयोरिति वाक्यपदीयं च सङ्गच्छते। उदाहरणानि यथा नैषधे—

'बुद्धौ न धर्मः खलु शेषबुद्धौ ।'

अत्र धर्मं इत्यस्य स्थाने दध्म इति पाठ्यम् ।

'चेष्टा ध्वनेशान्नलिलासत्तदास्याः ।'

अत्रेत्वं भाष्यकैय्यटविरुद्धम् ।

'हरेर्यदक्रामि पदैककेन खम् ।'

अत्रत्वं नमो हरेर्विष्णोरेकपदेन पदाऽक्राम्याकाशम् । अत्र वृद्धिश्चिन्त्या अतएव प्रौढमनोरमायां दीक्षितेन 'कथं तर्हि 'हरेर्यदक्रामी'ति श्रीहर्षः । प्रमाद एवायमित्युक्तम् ।

'परानुरागाहि मदर्थशाखा कार्यो न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते ।'

अत्र लोके सहो ष्विः चिन्त्यः । 'छन्दसि सहः' इत्यनुशासनात् ।

'इमां स्विमायामपतीन चक्षुषी ।'

अत्र परस्मैपदिनश्चक्षुधातोरात्मनेपदं चिन्त्यम् । अतएव 'आचामदे-लिट्पदपदं 'ते, इतिसयोगनमितिश्वनाद्, तत्र । क्लिष्ट कल्पनात्वात्' ।

'अवागमन्नाहूय निमान्निमालत ।'

अत्रात्मनेपदिनो निमालयतेः परस्मैपदं चिन्त्यम् । कति ब्रूमः स्फुरन्तोऽपि बहवो दोषा विस्तरभिया दुर्दर्शाः ।

एवं 'संगिना वानरेन्द्रेण' 'कृष्णस्य सखिरर्जुनः' 'न निवर्तन्ति भूयः' इत्यादि रामायणमहाभारतगीताप्रयोगाणामार्षत्वेऽपि व्याकरणानिष्पन्नत्वेनासाधुत्वमेव । अतएव महाभाष्ये भाष्ये छन्दोवत्कवयः कुर्वन्तीत्युक्त्वा महर्षिभिरसाधुत्वम् । साधुत्वासाधुत्वविभागव्यापारे मुनित्रयमतमेवेति नियमः । प्रयोगार्थं प्रकृतार्थानन्तरम् । यथा नैषधे—

'चन्द्राभमास्यं मितवं दधाना ।'

चन्द्राभं चन्द्रतुल्यं, आभमत्रमतिरस्वच्छस्यविशेषः । तत्संबन्धि, मितवं, दधाना = कुर्वाणेत्यर्थः । अत्र दधानेतिपदं विदधानार्थस्याबोधकम् । विनोपसर्गेण विधाने तस्य नियमितशक्तिकत्वात् । अत्र विधानं ध्वननरूपमपि वाच्यम् । अभिधार्थान्तरं प्रतिपादयत एव पदस्य व्यञ्जकत्वात् ।

चन्द्रालोकेऽप्युक्तम्—'अर्थे विदधदित्यादौ दधदाद्यमवाचकम्।' 'विपूर्वो धा करोत्यर्थे, इत्यनुशासनाज्ञानं दूषकताबीजम्। क्लिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम्। यथा नैषधे—

'ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये, लोकेश लोकेशय लोकमध्ये।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञ रसज्ञतोपज्ञ समज्ञमज्ञम्॥

हे कृशोदरि! ब्रह्मलोकवासिनां जनानां मध्येऽज्ञं मूर्खं तिर्यञ्चमपि मा 'सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयादित्यस्य प्रथमं प्रवर्तकमज्ञ विद्धि अत्रायमर्थो व्यवहितो भवति क्लिष्टत्वात्। एवं तत्रैव उत्तमित्याद्यर्थे—अमोचि-चञ्चुपुटमौनमिद्रा। 'द्रागभेदिमघवाननमुद्रा।' इत्यादिष्वपि क्लिष्टत्व दोषो बोध्यः।

अब दोषो के भेद कहते हैं—कष्टेति—कष्ट, अप्रयुक्त, सन्दिग्ध, व्यर्थ, तीन प्रकार का अश्लील, अप्रतीत, असाधु (च्युतसंस्कृति) अवाचक, क्लिष्ट, ये नौ पदगत दोष हैं। इनमे से कुछ दोष कष्टत्वादि पदांश मे भी रहते हैं अधिकांश पदो में। कष्ट दोष श्रुतिकटु कहलाता है। उदाहरण जैसे नैषध मे—ह्रीणा चेति—ह्रीणा (लज्जित) और हृष्टा (प्रसन्न) भैमी (दमयन्ती) बोली। प्राह्णेतनी—पूर्वकालीन अग्निहोत्रादि क्रियाओ को करके हस्त से सखी को हटाते हुए नल ने दमयन्ती से आँखमिचौनी की। कीकट के राजा तुम्हारी कटाक्ष धारा से तृप्त होकर। इन पद्यांशो मे माधुर्य है गुण जिसमे वह शृङ्गाररस-प्रधान है। उसकी रचना मे 'णा, टा, ह्णे, रा टा ये श्रुतिकटु कठोरवर्ण नहीं होने चाहिए इसलिए दोष है। वीर बीभत्स और रौद्ररसो में तो कठोरवर्ण गुण हो जाते हैं।

और भी नैषध मे देखो—अवोचतेति—दमयन्ती के तरल कटाक्ष का देखना रूपी जो झलत्कार का चमत्कार उससे वशीभूत नैषध (नल) दमयन्ती से बोला। यहा शृङ्गाररस वे गुण माधुर्य मे इतना समास का होना नितान्त दूषित है। क्योकि माधुर्य का लक्षण असमासत्व, या अल्पसमासत्व है। अप्रयुक्तमिति—अमरसिंहादि कोशकारों से पद्म शब्द के पुल्लिङ्ग मे होने का अनुशासन कवियो से स्वीकृत नही। उदाहरण—मुखमिति—हे प्रिये! यह पद्म तुम्हारे मुख का सादृश्य प्राप्त करना चाहता है। दूसरा

वक्ता के तात्पर्य का यथार्थ ज्ञान न होना सन्दिग्ध दोष होता है। उदाहरण—स्मितेनेति—यह दमयन्ती हास्य से गौरी, दृष्टि से हरिणी, कण्ठ स्वर से वीणावती, शरीर-शोभा से हेमा और मेनका भी है। ये सब अप्सराओं के नाम हैं, पक्ष में गौरी=पार्वती, हरिणी=मृगी, वीणावती=वीणायुक्त, हेम=स्वर्ण अर्थ भी है श्लिष्ट शब्द होने से। यहां मेनकापि ये दो पद हैं या चार हैं, यह सन्देह का कारण है। शब्दबोध में विलम्ब हो जाना ही यहां दूषण है। व्यर्थ दोष वह होता है जिसमें प्रकृत में अनुपयोगी पाद की पूर्ति मात्र प्रयोजन वाला पद हो। उदाहरण—येषु चेदपीति—जिन-जिन भूषणों में अथवा गुणों में दमयन्ती इच्छुक है। यहां 'यदि' और 'अपि' दोनों शब्द व्यर्थ हैं। केवल 'वा' शब्द से ही प्रयोजन-सिद्धि हो सकती है। प्रयोजन के ज्ञान की व्यग्रता ही यहां दूषण है। व्यर्थ और अधिक पद दोनों एक नहीं हो सकते क्योंकि पादपूरक निष्फल नहीं होता। मित चेति—सारभूत थोड़ा बोलना ही वाग्मिता है यहां चादि समुच्चयार्थक है, व्यर्थ नहीं।

जो असभ्य अर्थ का व्यञ्जन करे उसे अश्लील कहते हैं। अमङ्गल, लज्जा, घृणा का व्यञ्जक होने से अश्लील दोष तीन प्रकार का होता है। नैषध में से क्रमशः सब के उदाहरण हैं—तव वर्त्मनीति—हे हंस! तुम्हारे मार्ग में कल्याण हो पुनः शीघ्र ही तुम्हारा आना हो। जाओ, अपने इष्ट को सिद्ध करो। समय समय पर हमारा स्मरण करते रहना। यहां पदों का छेद करने पर यह अमङ्गल व्यञ्जक अर्थ भी हो सकता है कि हे हंस! तुम्हारा मार्ग कल्याणरहित हो और तुम शीघ्र मत आओ। व्रीडा का उदाहरण—समुन्नयमानेति—यह दमयन्ती मेरे गर्भ में आई हुई है। यह लज्जाजनक अश्लील का उदाहरण है, क्योंकि 'गर्भ' शब्द लज्जा का व्यञ्जन करता है।

जुगुप्सा (घृणा) की व्यञ्जकता का उदाहरण—वमंतीति—चन्द्रमा ने ज्योत्स्ना समूह को छोड़ना हुआ। यहां वमन शब्द घृणा (उलटी) का व्यञ्जक है। जो किसी एक शास्त्र में ही प्रसिद्ध हो वह अप्रतीत दोष

कहलाता है। ईशेति—ईश्वर का जो अणिमा रूप ऐश्वर्य है, उसका जो विवर्त=प्रतात्विक अन्यथाभाव, तद्वत् है मध्य भाग जिसका ऐसी वह कृश उदर वाली। यहा विवर्त शब्द वेदान्तशास्त्र का है वही यहाँ रख दिया इसलिए दूषित है क्योंकि जो वेदान्तशास्त्र को नही जानता उसको इस शब्द का अर्थज्ञान कैसे हो सकता है ! यही यहाँ दोष है।

असाधु का लक्षण करते हैं—व्याकरणेति—जो शब्द व्याकरण-शास्त्र से सिद्ध हो अथवा उच्चारण किया हुआ पुण्य जनन करे वही साधु होता है उससे विरुद्ध असाधु। क्योंकि यहाँ नञ्समास विरोधार्थक है जैसे सुर-विरोधी असुर। भाष्य मे लिखा है—अर्थ, शब्द और अपशब्द दोनो का ही बराबर होता है परन्तु साधु शब्द से उच्चारित किया हुआ अर्थ धर्मजनक होता है। यही बात वाक्यपदीय मे कही है—वाचकता की विशेषता न होने पर भी पुण्य और पाप की विशेषता है। उदाहरण नैषध मे देखिये—बुद्धाविति—नल को देख कर हम अपनी बुद्धि मे दोष और बुद्धावतार को भी निष्प्रयोजन मानते है। यहाँ 'धर्मः' प्रयोग अशुद्ध है, 'अधर्मः' होना चाहिये। दूसरा उदाहरण—चेष्टा इति। यहाँ 'व्यनेशत्' शब्द मे इत्व, भाष्य और कैयट से विरुद्ध है यही दोष है।

सारे आकाश को हरि ने एक ही पद से आक्रान्त किया था। यहाँ 'अक्रामि' पद मे वृद्धि व्याकरण विरुद्ध है। प्रौढमनोरमाकार ने भी हमारी इस बात का समर्थन किया है। धरातुरेति—हे हंस ! किसी अन्य कार्य मे संलग्न पृथ्वीपति नल के प्रति तू मेरे निमित्त याञ्चा न करना कदाचित् अन्यमना होने से वह तेरी याञ्चा को ठुकरा दे। यहाँ 'धरातुरासाहि' मे ण्वि प्रत्यय हो नही सकता क्योंकि वेद मे ही वह ण्वि प्रत्यय करता है। इमामिति—यहाँ 'आचामयसे' अशुद्ध है। क्योंकि यह धातु परस्मैपदी है। क्लिष्ट कल्पना होने से प्रौढमनोरमा का समाधान भी असङ्गत है। अपामिति—यहाँ निभालय के स्थान मे 'निभालयस्व' होना चाहिये था क्योंकि यह धातु आत्मनेपदी है।

इसी प्रकार 'सखिना' यह रामायण का 'सखि' यह महाभारत का और

हे महाराज ! एषा नलाय प्रीति वितरेति ममाभ्यर्थनक्रुधा त्वयि-परपुरुषबुद्ध्याऽत्र मां कथं प्रवर्तयसीति मां ताडयति । भ्रूक्षेपेण चेतः परं मायादीरिति तर्जयति चेति त्वया दृष्टं दृष्टं त्वं पश्येत्यर्थः । संभ्रमे द्विरुक्तिः । अत्रैवेतिकर्तृपदं न्यूनम् । यत्ताडयसि मामेवेति पाठ्यम् ।

यथा वा मम—

लोके प्रसिद्धनामा सोमाऽचारस्य वेदमर्मज्ञः ।
नगरभिवानीधामा सोतारामाभिधः शास्त्री ॥

अत्र जयतीत्यादिपद नास्ति । जयति भिवानीधामा, इत्येवं तृतीय-चरणनिर्माणे कृते तु नैष दोषः । साकाङ्क्षत्वं दूषकताबीजम् । एवम-धिकपदकथितपदत्वेऽपि दूषणे । तत्राधिकपदं यथा नैषधे—

'कुहूगिरः चञ्चुपुटं द्विजस्य राकारजन्यामपि सत्यवाचम् ।'

अत्र रजनीपदम् । 'राकापूर्णनिशाकरे' इत्यनुशासनात्पूर्णनिशाकरा-वच्छिन्नकालस्यैव राकापदार्थत्वात्सत्वहः । अतएवाभियुक्ताः प्रयुञ्जते—'राकासुधाकरमुखी', 'राकायामकलङ्कं चेदित्यादि । यथा वा तत्रैव—

सभावयति वैदर्भी दर्भाग्राभमतिस्तव ।
जम्भारिस्त्व कराम्भोजाद्दम्भोलिपरिरम्भिणः ॥

कुशाग्रबुद्धिः वैदर्भी तव दम्भोलिर्वज्रस्तद्धारिणः कराम्भोजात्करा-म्भोजमवेक्ष्य जम्भारित्वमिन्द्रत्वं सभावयति । अत्राभपदमधिकम् । अतएव कविकुलगुरुः कालिदासः प्रायुङ्क्त—'कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते । यथा वा तत्रैव—

'उन्मीलल्लीलनीलोत्पलदलदलनामोदमेदस्विपूर ।'

अत्र लीलेतिपदमधिकम् । कथितपदं चापि नैषधे—

'श्वासधनायक-विषण्णमुखानुमेय-भैमी विरक्तचरितानुमया तु जगुः ।'

अत्र भैमीविरक्त चरितेन तु जगुरेवेत्यदुष्टम् । विसन्धिः सन्धिविरहः । स च द्विविध ऐच्छिकः प्रगृह्यत्वादिनिबन्धनश्च । ऐच्छिकः सकृदपि दोषः द्वितीयस्त्वसकृत् । तथैव कविसमयात् । ऐच्छिकस्य यथा—

'झञ्झानिलेन अमुना बहुवृक्षा निपातिता ।'

झञ्झानिलेन=सवृष्टिकवातेन अमुना अनेनेत्यर्थः । यद्यपि अदसस्तु विप्रकृष्टे' इति वृद्धोक्तेरद शब्दस्य परोक्षज्ञान-विषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्ने शक्ति । तथापि अमु पुर पश्यसि देवदारुम्' अमु किन्न त्व पृथिवीमवातर ?' इत्यादिप्रामाणिकप्रयोगदर्शनादद शब्दस्य प्रत्यक्षज्ञान-विषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नेऽपि शक्तिरिति बोध्यम् ॥

ऐच्छिकत्वेनाशक्तिमूलकतया सहृदयोद्वेजकत्वमत्र दूषकताबीजम् । नचास्यासाधुत्वमेवेति वाच्यम् । वाक्ये सन्धीच्छा विवक्षस्य व्याकरणानुशिष्टत्वात् । प्रगृह्यत्वादिनिबन्धनस्य यथा मम—

राधे ते अक्षिणी एते श्रीकृष्णे अनुरागिणी ।
तथाभिलाषिणी अष्ट लीला लीलाङ्कधारिणि ॥

अत्र 'ईदूदेद्द्विवचन प्रगृह्य मिति पाणिनिसूत्रेण द्विवचनस्य प्रगृह्यत्व तस्य च प्लुतप्रगृह्या अचिनित्यमिति पाणिनिसूत्रेण प्रकृतिभावविधानादसकृदेव दोष । सन्ध्यर्थविहत्य दूषकताबीजम् । व्यवीर्ण=व्यवहितान्वयम् यथा नैषधे—

नि शङ्कमङ्कुरितता रतिवल्लभस्य
देव स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन ।
तत्रावलोक्य मुदृशा हृदयेषु रुद्र,
अत्र । तत्र स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन
रथ्यावलोजनमन मु महान्महेश ।
नि शङ्कमङ्कुरितता भवनस्य वीक्ष्य
तद्देहदाहफलमाह स किं न विद्म ॥

इत्येव पठितु युक्तम् । प्रतीतिविलम्बो निर्जल्बोधविलम्बादरसभङ्गो वा दूषकताबीजम् । समाप्तपुनरात्त—समाप्त सत्पुनरुपात्तम् । यथा नैषधे—

छेत्तुमिन्दो अवद्वक्त्र-बिम्बविभ्रमविभ्रमम् ।
शङ्के शशाङ्क मानङ्के भिन्नभिन्नविधिर्विधि ॥

हे प्रिये, भवत्यास्तवत्रबिम्ब भ्रममिन्दो छेत्तु वहा ससाङ्कमानङ्के इत्यह

शङ्के म ये। अत्र वाक्यसमाप्तावपि चतुर्थपाद पुनरुपात्त। बिम्बविभ्रम-मञ्जुभूरिति पाठे चतुर्थपादस्य निराकाङ्क्षत्वं दूषकताबीजम्। भग्नप्रक्रम यथा नैषधे—

निजास्यचन्द्रस्य सुधाभिरुक्तिभि।'

अत्र निजास्यचन्द्रौ क्रमेणोपक्रम्य तदुभयोचितयोरुक्तिसुधयो पौर्वापर्यमुचितम्। यथासंख्यमनुदेश समानामिति न्यायात्। तदन्यथाकरण दूषकताबीजम्। 'निजास्यचन्द्रस्य सुभाषितामृतै'रिति पाठ्यम्। भग्नयतिर्यथा नैषधे—

सविधमधुनाऽलङ्कुर्वन्ति ध्रुव रविरश्मय।

अत्र षष्ठे वर्णे पद-सधानकृता यतिरश्रव्यतामावहति। यतिश्च स्थानविशेष विच्छेद। 'यतिर्विच्छेद' इति षष्ठाध्याये भगवत्पिङ्गलाचार्यसूत्रणात्। 'यतिर्विच्छेदसंज्ञक' इति वृत्तरत्नाकराच्च। यस्या पद्येषु मधुरता जायते। 'मधुरतानिमित्त यतिरिष्यते' इति कविकल्पलताकारोक्ते।

भग्नच्छन्दो यथा कुमारसम्भवे—

तत परमोमित्युक्त्वा प्रतस्थे मुनिमण्डलम्।

अत्र मित्युक्त्वा=स्वीकृत्य, प्रतस्थे जगाम, तिष्ठतिरत्र गतिवाची धातूनामनेकार्थत्वात्। प्रशब्दस्तु गत्यादिरूपस्य द्योतक। उपसर्गाणा द्योतकत्व इव गतिगताविति सूत्रभाष्ये उक्तत्वात्। अत्र प्रथमपादे पञ्चमवर्णस्य लघो स्थाने गुरो करणाच्छन्दोभङ्ग। श्लोके षष्ठ गुरु ज्ञेय सर्वत्र लघु पञ्चममिति छन्द शास्त्रविरुद्धत्वात्। यथा वा नैषधे—

यत सुराणा सुरभिर्नृणा तु।

अत्र 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततोग' इत्यनुसार तु शब्दस्य गुरो स्थाने लघो करणाच्छन्दोभङ्ग। 'यत सुराणा सुरभिर्नराणा'मिति पाठ्यम्।

एषु चाश्रव्यता सहृदयहृदयोद्वेजिनी दुष्टताबीजम्। वाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुप्रवेशो वाक्यगर्भत्व यथा नैषधे—

तस्यार्थे गरुडामरेन्द्रसमर स्थाने स जानेऽजनि। अत्राऽह जाने' इति वाक्यमजनीति वाक्यमध्ये प्रविष्टम्। पदानामनासत्तिर्दूषकता

बीजम्। या रीतिमुपक्रम्य प्रवृत्तं तद्भङ्गवदरीतिमत्। यथा नैषधे—

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
जनस्य चित्तेन तयानुगम्यते तृणेन वात्यैव भृशावशात्मना॥

अवश्यभव्येष्वयंग्‍ भव्यगेय इत्यादिना कर्तरि यत्। 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इत्यवश्यमोमकारलोप। अनवग्रहग्रहा=निरंकुशा वेधसो ब्रह्मण' स्पृहा इच्छा यया दिशा धावति=गच्छति, जनस्य चित्तेन तया दिशाऽनुगम्यते भृशावशात्मना=परतन्त्रेण तृणेन वात्या वातसमूह इव पाशादिभ्यो य स्त्रीत्व लोकात्। स्पष्टमन्यत् अत्र धावतीति कर्तृवाचकतिङ उपक्रमेऽनुगम्यते इति कर्मकारकवाचकस्योपादानादरीतिमत्त्वम्। अथवा या रीतिं वैदर्भ्यादिकामुपक्रम्य प्रवृत्त तद्भङ्गवदरीतिमत्। यथा नैषधे—

स्व च ब्रह्म च ससारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम्।
इति स्वोच्छित्तिमुक्त्युक्तिवैदग्धी वेदवादिनाम्॥

ससारदशाया स्व=जीवात्मा, ब्रह्म=परमात्मा चेति द्वयमप्यस्ति। यौ समप्राधान्यद्योतनार्थौ मोक्षदशायां तु केवल ब्रह्मैव, ससारोपाधिनिवृत्तौ ब्रह्मात्मना संपद्यत इत्यर्थः। स्वस्योच्छित्तिरेवमुक्ति. तस्या उक्तिर्वचन तत्र वैदग्धीति परिहास.। अत्र वैदर्भ्योपक्रम्य गौड्यासमापनमिति दोषः। अविमृष्टविधेयांश—प्राधान्यानिर्दिष्टविधेयकम्। यथा नैषधे—

किमसुभिर्ग्लपितैर्जड मन्यसे, मयि निमज्जतु भीमसुतामनः।

हे जड चन्द्र, असुभि. प्राणैर्ग्लपितैर्निष्कासितैर्भीमसुतामनो मयि चन्द्रे निमज्जतु सभावनाया लोट् किमिति मन्यसे त्वमित्यर्थ.। अत्र- मनश्चन्द्रे निलीयते इति श्रुते. सर्वसामान्याना मनसा चन्द्रे लयविधानम्। अत्र वृत्तौ तस्य निर्देशः इत्यविमृष्टविधेयांशो दोष। 'भीमभुवोमन' इति पाठमम्। यथा वा तत्रैव—

सा भङ्गिरस्या. खलु वाचि कापि यद्भारती मूर्तिमतीयमेव।

अत्रेय मूर्तिमती सा भारत्येवेति भारतीत्व विधेयम्, उद्देश्यवचन पूर्वं विधेयस्य ततः परम्, इत्यनुशासनोल्लघन दोष' नेयार्थं शब्दसबन्धमात्रेणार्थान्तरयोपस्थापन यथा नैषधे—

अवघृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम् ।

दिवोऽपि=स्वर्गस्यापि यौवतं युवतीसमूहैर्भिक्षादित्वादण् । अत्र न सहाधीतवतीमसदृशीं ततोऽप्यधिकसुन्दरीमित्यर्थ । स च न शक्यार्थ इति दोष । यथा वा तत्रैव—

अनूपयामास स भीमजाश्रुती ।

भीमजाश्रुती=कर्णौ अनूपयामास परिपूर्णे चकारेतिलक्षणा। सा चात्र न सम्भवति । 'लक्षणा सा न कर्तव्या कष्टेनार्थागमो यत । न यत्र शक्य-सम्बन्धो न रूढिन प्रयोजनम् ॥ इत्युक्ते । अर्थानुपस्थितिर्दूषकताबीजम् ।

इत्यर्थमप्रसिद्धेर्थे प्रयुक्त निहतार्थं, यथा नैषधे— निजस्य तेज शिखिन' । 'नृप पतङ्ग समधत्त पाणिना । 'लेखानुजीविपुरुषा ' । 'भैमी-ङ्गितानि शिबिकामधरे वहन्त । कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते । 'जिनो-क्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवा ।

एषु पद्यांशेषु स्थिता शिखिपतङ्ग लेखाधराध्ययन श्राद्धशब्दा मयूर-हालभलेखाधरोष्ठाध्ययनपितृकर्मसु प्रसिद्धा अग्निहंसदेवाधोभागप्राप्तिश्रद्धा वदर्थेषु निहता । प्रसिद्धस्यैव प्रागुपस्थित्या विवक्षितस्य विलम्ब्योपस्थिति दूषकताबीजम् ।

दत्वा कन्या सुपात्राय विद्यामिव सुखी भवेत् । सुपात्राय सद्वराय पक्षे सच्छिष्याय कन्या सुशीलादिकामित्यत्र तु मदीये पद्यांशे न दोष सुपात्रशब्दस्य द्वयोरर्थयो प्रसिद्धे । विमत=विरुद्धमतिकृत् । यथा नैषधे—

'न तुलाविषये तवाकृतिन वचो वर्त्मनि ते सुशीलता ।'

हे हंस तवाकृति स्वरूप तुलनाविषये न नैव, ते सुशीलता वक्तुम शक्या, अत्र साहश्यार्थकतया प्रयुक्त तुलाशब्दो झटिति मानयन्त्रबोधक-तुलाया प्रतीतिकरत्वाद्विरुद्धा मतिमुत्पादयति यथावा तत्रैव— 'न तन्मुखस्य प्रतिमाचराचरे ।

अत्र प्रतिमाशब्द उपमाया प्रयुक्तोपि झटिति मूर्तिप्रतीतिकरत्वाद्वि रुद्धां बुद्धिं प्रसूते । एषु प्रकृतार्थधीप्रतिबन्धकता दूषकताबीजम् ।

अप्रसिद्धं=प्रसिद्धिहतम्। यथा नैषधे—

'कङ्कणालिकलहैश्च नृत्यता कूजितं सुरतकूजितं तयोः।'

तयोर्भैमीनलयोः नृत्यता कङ्कणालिकलहैः शब्दैः सुरतकूजितं= कूजितं मन्दीकृतमित्यर्थः। अत्र-'मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजित-प्रभृति। स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्॥ इति काव्य-प्रकाशकारोक्तया कविसमयप्रसिद्धया हन विरुद्धम्।

पद-दोषों के अनन्तर वाक्य-दोष दिखाते हैं—न्यूनमिति—न्यूनपद, सम्बन्धभाव, सकीर्ण, समाप्तपुनरात्त, भग्नक्रम, भग्नयति, भग्नच्छन्द, वाक्यगर्भ, अरोहिमत् अविमृष्ट-विधेयांश, नेयार्थ, निहतार्थ, प्रमनपराय, प्रसिद्धित्याग, ये दोष केवल वाक्यों में ही होते हैं, पदादि स्थल में नहीं होते। किसी एक पद से शून्य न्यून दोष होता है। उदाहरण— दृष्टमिति—हे महाराज! आपने देखा, आपके साथ प्रेम करने के लिये मेरी अभ्यर्थना पर क्रुद्ध होकर यह (दमयन्ती) आपको नल न जानकर 'इससे प्रेम करने को क्यों कहती है' ऐसी मुझे ताड़ना कर रही है और भृकुटि से 'फिर ऐसी बात मत कहना' ऐसी तर्जना द रही है। यहा कर्तृपद न होने से यह न्यून दोष हो गया है। 'यत्ताडयति मामेषा' ऐसा पद्य दने पर दोष हट जाता है।

दूसरा उदाहरण—सोऽह इति—सोऽह मे जिनका नाम प्रसिद्ध है, सदाचार की जो सीमा (पराकाष्ठा) हैं, वेदों के मर्मज्ञ और भिवानी नगर के निवासी श्री सीताराम जी शास्त्री सर्वोत्कर्ष युक्त हैं। यहाँ 'जयति' पद न होने से न्यूनपद-दोष हो जाता है। तृतीय चरण को अन्यथा करने पर वह दोष यहा नहीं रहता। इसी प्रकार अधिकपद और दयित-पद भी दोष हैं। अधिकपद का उदाहरण—कुहूगिर इति—दिखाए कुहूगीर् याने द्विज=कोयल के कल्कूजित को राकारजनी (पूर्णिमा रात्रि) में भी अभ्यदार बतना रहीं है। यहां रजनी पद अधिक है, क्योंकि पूर्ण निशाकर से युक्त कालरात्रि ही होता है न कि दिवस। इसीलिये

अभियुक्तो ने 'राकासुधाकरमुखी', 'राकायामकलङ्क चेत्' इत्यादि प्रयोगो को ही उचित माना है।

तीसरा उदाहरण—सभावयतीति—कुशाग्रबुद्धि वैदर्भी (दमयन्ती) आपको वज्रहस्त देखकर इन्द्र मान रही है। यहा आभपद अधिक है। देखिये कविकुलगुरु कालिदास का पद्य—कुशाग्रबुद्धि—लिखा है। चौथा उदाहरण—उन्मीलदिति—विकसित जो नीलोत्पल (नीलकमल) उनके जो पत्र उनके विकास से उत्पन्न जो परिमल उससे पुष्ट है पूर (प्रवाह) जिसका ऐसा तालाब है। यहा (लीला) पद अधिक है। कथितपद का उदाहरण—आसन्नेति—समीपवर्ती नायक के विपण्ण मुख से अनुमेय (ज्ञेय) जो भैमी (दमयन्ती) मे विरागपूर्ण चरित्र उसे अनुमान से जाना। यहा अनुमा कथित पद है।

यहाँ भैमीविरक्तचरितेन' पाठ कर देने से दोष नही रहता। विसन्धि का अर्थ है—सन्धि का अभाव। वह दो प्रकार का होता है—एक इच्छाकृत, दूसरा प्रगृह्य सज्ञा निमित्तक। इच्छाकृत एक बार पढने मे भी दूषित है, द्वितीय अनेक बार पढने से। क्योकि कवियो ने ऐसा ही माना है। ऐच्छिक का उदाहरण—भग्नेति—इस समुद्रिक वायु ने सभी वृक्षो को तोड डाला। यद्यपि अदस् शब्द परोक्ष मे रहता है तथापि उसका प्रयोग इदमर्थ मे भी होता है जैसे रघुवश मे—'अमु पुर पश्यसि' और माघ मे—'अमू किल त्वम्' ये दोनो महाकवियो के प्रयोग हैं, और समीपस्थ के बोधक हैं।

इच्छाकृत होने से अशक्ति का द्योतक है। उससे सहृदय पुरुषो का उद्वेजन होना स्वाभाविक है। यही यहाँ दोष है। शका—इस दोष को असाधु (च्युतसस्कृति) ही मान लिया जावे तो क्या हानि है? उत्तर—वाक्य मे सन्धि 'करना 'न करना' व्याकरण मे अनुमत है। अत यह असाधु दोष नही हो सकता। उदाहरण—राधे ते इति—हे राधे! तुम्हारे नेत्र श्रीकृष्ण मे पूर्ण अनुराग रखते हैं, और नीलाङ्ग हरि की रास-लीला देखने के लिये उत्सुक हैं। यहाँ 'ईदूदे'—इस पाणिनिसूत्र से द्विवचन की

प्रगृह्य संज्ञा हो गई, उसकी 'प्लुतप्रगृह्या' सूत्र से प्रकृतिवद्भाव हो गया परन्तु बार-बार ऐसा करना दोष है, क्योंकि वहाँ प्रबन्ध की शिथिलता हो जाती है।

व्यवहितान्वय को व्याकीर्ण कहते हैं। उदाहरण—निःशङ्कमिति—यहाँ उज्जयिनी में भगवान् रुद्रदेव अपने चन्द्रकिरण रूपी अमृत के सेचन से स्त्रियों के हृदय में पुनः कामदेव की निर्भय उत्पत्ति देखकर उसके शरीर के भस्मीकरण का प्रयोजन व्यर्थ मानने लगे। यहाँ अन्वय में व्यवधान पड़ जाता है अतः दूसरी तरह से पढ़ना ठीक है।

यहाँ प्रतीति में विलम्ब होना अथवा अपने को शाब्दबोध के विलम्ब में रस का न आना दूषकता का कारण है। समास-पुनरात्त दोष वह होता है जो समास करने पर भी फिर गृहीत किया जाय। उदाहरण—दैत्युमिति—हे भैमि! निष्कलङ्क चन्द्रमा में अति सादृश्य होने से तुम्हारे मुख की भ्रान्ति हो सकती थी, उसको हटाने के लिए चन्द्रमा को शश (कलङ्क) से अङ्कित कर दिया है। यहाँ चतुर्थ पाद बेकार है दूसरे विभ्रम पद में अधिक पद दोष भी है उसको हटाने के लिए 'बिम्ब विभ्रमभञ्जनम्' ऐसा पढ़ देना चाहिये। यहाँ चतुर्थ पाद का निराकांक्षत्व होना दोष का कारण है। जिसका जिस क्रम से प्रारम्भ किया है उसका अन्त तक उसी क्रम से निर्वाह करना चाहिये, यदि इस क्रम का भङ्ग हो जाय तो भग्नप्रक्रम दोष होता है। उदाहरण—निजास्येति—अपने मुखचन्द्र की मुखाग्नि रूपी सुधा से' यहाँ पहले मुख फिर चन्द्र कहा उनके अनुसार आगे भी पहले उक्ति फिर सुधा कहना चाहिये था, पहले सुधा कहना उचित नहीं, उसका अन्यथाकरण ही यहाँ दोष है। अमतपति का उदाहरण—सविपक्षिनि—यहाँ षष्ठ वर्ण में पर पद का मिलना अप्रयनि दुःश्रव है। ऐसा करने से पद में मधुरता नहीं रहती। मधुरता का न रहना ही दोष है।

भग्न छन्द का उदाहरण—ततः परमिति—इसके अनन्तर मुनिसमूह, गान को स्वीकार करके चला गया। यहाँ स्था धातु का गमन अर्थ स्वीकार कर लिया गया क्योंकि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ प्रथम

पाद में पद्ममात्र न पुरुहोना चाहिए था, दीर्घ कर देने से छन्दोभङ्ग दोष हो गया। दूसरा उदाहरण—यस इति—यहां नु दीर्घ होना चाहिये। पद्मच्युता यही दोष का कारण है। वाक्यगर्भ का उदाहरण—तात्पर्य इति—अमृत के लिए गरुड और इन्द्र का समर (युद्ध) होना ठीक था यह मैं मानता हूँ। यहाँ 'अजनिजत' एक वाक्य है उसमें 'यह जाने' बीच में मिला दिया, यही दोष है।

जिस रीति प्रक्रिया को लेकर चले उसका भंग कर देना भग्नरीतिमद् दोष होता है। उदाहरण—प्रवस्येति—निरंकुश देवी इच्छा जिस दिशा में दौड़ती है बाल समूह से तृण की तरह, मनुष्य का चित्त भी उसी दिशा में दौड़ता है यहाँ धावति में कर्तृ वाचक लिङ् है, परन्तु 'अनुगम्यते' में कर्मवाचक लिङ् यही दोष है। अथवा वैदर्भी आदि रीति के भंग करने में भी यह दोष रहता है। उदाहरण—स्य चेति—संसार की दशा में जीव और ब्रह्म दोनों पृथक्-पृथक् रहते हैं। परन्तु मुक्ति होने पर ब्रह्म ही एक रहता है, यह वेदज्ञ की उक्ति हास्यास्पद है यह वर्णि कह रहा है।

यहाँ वैदर्भी रीति से प्रारम्भ करके गौडी रीति से समाप्त करना ही दोष है। अविमृष्टविधेयांश का उदाहरण—किमभुभिरिति—हे जड़ चन्द्र! क्या तू यह जानता है कि दमयन्ती के प्राण निकलने पर मुझ (चन्द्र) में इसका मन लीन हो जावेगा। यहाँ श्रुति के अनुसार प्राणान्त होने पर सभी के मनो का चन्द्र में लय हो जाता है तब यहाँ समास कर देने में दमयन्ती के मन की प्रधानता दबा दी गई है।

सेति—यह दमयन्ती मूर्तिमती सरस्वती ही है क्योंकि इसकी वाणी में अद्भुत प्रभाव है। यहाँ यह मूर्तिमती वह भारती ही है ऐसा कहना चाहिए था। अब भारती अनुवाद्य-सा हो गया है, विधेय होना चाहिये था। दाक्य सबन्ध से अशक्य अर्थ की उपस्थिति करना नेयार्थ दोष है। उदाहरण—प्रवधूत्येति—मैं स्वर्ग की युवतियों से भी अधिक सुन्दरी दमयन्ती को मानता हूँ। यहाँ अशक्य अर्थ का उपस्थापन करने से नेयार्थ दोष है। दूसरा उदाहरण—अनुपयामासेति—उसने दमयन्ती के

कर्णों को परिपूर्ण किया अर्थात् सुनाया यह अर्थ है किन्तु यहाँ लक्षणा नहीं हो सकती। रूढि और प्रयोजन के अभाव से यही दोष है।

दो अर्थों वाला पद अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त किया हुआ निहतार्थ दोष होता है। उदाहरण—निजास्येति—अपने तेजरूपी अग्नि का। नृप इति—राजा ने हाथ से हंस को पकड़ लिया। लेलेति—देवताओं के भृत्य पुरुष। भैमीति—अधोभाग में शिविका को धारण करने वाले पुरुष भैमी=दमयन्ती के इङ्गितों (अनुराग-चिह्नों) को प्रतिबिम्ब से जान गये। कार्यमिति—कार्य अपने कारण से गुणों को ग्रहण करता है। भिनेति—सिन्धु देश वालों ने जिन भगवान् की उक्तियों में श्रद्धा की। इन श्लोकों के शब्दों में निजिपतङ्गादि शब्द मयूरराजमादिक अर्थों में प्रसिद्ध हैं, अग्नि हंसादि अर्थों में निहत (अप्रसिद्ध) हैं। अर्थज्ञान शीघ्र नहीं होता, यही दोष है।

दत्त्वेति—सुपात्र के लिए कन्या और विद्या देकर पुरुष सुखी हो जाता है। यह उदाहरण दोषजनक नहीं क्योंकि सुपात्र शब्द दोनों अर्थों में प्रसिद्ध है। विरुद्ध बुद्धि को करने वाला दोष विमत (विरुद्धमतिकृद्) होता है। उदाहरण—न तुलेति—हे हंस, तुम्हारी आकृति की तुलना उपमा किसी से हो ही नहीं सकती और तुम्हारा सुन्दर स्वभाव वर्णयितुमशक्य है। अर्थात् तुम्हारा जैसा सुन्दर स्वरूप है वैसा ही सुन्दर स्वभाव भी है, यहाँ तुला शब्द एकदम तुला तखड़ी की प्रतीति करता है। दूसरा उदाहरण—न तन्मुखेति—दमयन्ती के मुख की उपमा कहीं भी नहीं मिलती, यह अर्थ है। यहाँ प्रतिमा से मूर्ति की प्रतीति शीघ्र होती है। अतः दोनों जगह विरुद्धमतिकृत् दोष है।

कविलोक-प्रसिद्धि से रहित दोष अप्रसिद्ध होता है। उदाहरण—कङ्कणेति—नाचने वालों के कङ्कणादि के शब्द से उन दोनों का सुरत कूजित मन्द हो गया। यहाँ मञ्जीरेति—मञ्जीर (बिछुवे) आदि में रणित, पक्षियों में कूजित आदि, सुरत में मणित आदि, और मेघादिकों में गर्जित आदि शब्द होते हैं। यह काव्यप्रकाशकार ने कवि-प्रसिद्धि

मानी है, यहाँ इसके विरुद्ध सुरत मे कूजित शब्द का प्रयोग किया गया है अत. प्रसिद्धि त्याग दोष हुआ ॥४॥

(अर्थदोषा)

ग्राम्यादयश्चार्थदोषा रसाद्युक्तिः स्वशब्दतः ।
पौनःपुन्येन दीप्त्याद्या रसे दोषाः प्रकीर्तिताः ॥५॥

ग्राम्यादीत्यादिना—व्याहताश्लीलनिर्हेतुदुष्क्रमाऽनवीकृतपुनरुक्तहीनाधिकोपमानां सग्रह । तत्र ग्राम्यो यथा नैषधे—

निजाननस्पर्शनमर्प्यते त्वया वर किमस्मै न नितान्तमर्थिने ।

हे सखि, वर वदनस्पर्शन वदनसयोगः नितान्तमर्थिनेऽस्मै नलाय, त्वया किमिति नार्प्यते । अयमर्थो ग्राम्य. । वैदग्ध्याभावाद्विभावादिरूपोऽर्थो न रसाय पर्याप्यते । सहृदयहृदयवैमुख्य चाश्लीलवद्दूषकताबीजम् । अत्रार्थस्यैव दोषो न शब्दस्य परिवृत्तिसहत्वात् । द्विजराजमुखी मृगराजकटिर्गजराजविराजितमन्दगति । यदि सा वनिता हृदये निहिता जप क तपः क समाधिरति ॥ इत्यत्र तु कटिपद ग्राम्य नत्वर्थ इति पददोषत्वमेव । व्याहत मुपात्तविरुद्धम् । यथा नैषधे—

इन्दु मुखाद्बहु तृण तव यद् गृणन्ति ।
हिमांशुबिम्बलक्ष्मीविडम्बि मुखि ॥

हे हिमांशुबिम्बलक्ष्म्यनुसृतमुखि, तव मुखादिन्दु बहुतृण =तृणतुल्य वदन्ति । अत्र पूर्व चन्द्रबिम्बशोभानुसृत मुखोत्तिकथन पश्चात्तन्मुखापेक्षया चन्द्रस्य तृणतुल्यकथन व्याहन्यते । विडम्बशब्दस्यानुसृतत्वमर्थं कालिदास प्राह-'वपु प्रकर्षेण विडम्बितेश्वर । काव्यादर्शे दण्डी च । उत्कृष्यापकर्षवर्णन दूषकताबीजम् । 'उत्कर्षोवापकर्षो वा प्राक् यस्य विनिगद्यते । तस्यैवाथ तदन्यश्चेद् व्याहतोऽर्थस्तदा भवेत् ॥ इति प्रदीपकारोक्ते ।
अश्लीलमश्लीलत्वम् । कपिलादित्वाद्रेफस्य लत्वम् । यथा नैषधे—

बहुमानि विधिनापि तावक कण्ठनेत्रयुगमन्तराङ्गकम् ।
स व्यधादधिकवर्णकैरिद काञ्चनैर्यदिति तां पुराह सः ॥

हे भैमि, भवन्नेत्रयुगमन्तराङ्कं तावकं कपोलद्वयं, न केवलं मयैव ब्रह्मणापि बहुमानि नितरामाहतम्। यत्सगौरवर्णैः काञ्चनैरिदं व्यधात्।

काव्येषु एवंविधवर्णनं महतेऽश्लीलदोषायेति काव्यविदो वदन्ति। अनुपात्तहेतुको निर्हेतुः हेतुत्वाभाववान्। यथा नैषधे—

आसते शतमधिक्षितिभूपाः तोयराशिरसि ते खलु कूपाः।
किं ग्रहा दिवि न जाग्रति ते ते भास्वतस्तु कतमस्तुलयास्ते॥

अधिक्षिति=पृथिव्यां, शतं भूपा सन्ति। त्वं समुद्रोऽसि ते खलु कूपाः. दिवि आकाशे ते ते ग्रहा चन्द्रादयः किं न सन्ति पर भास्वतः सूर्यस्य तुल्यः क आस्ते न कोऽपि। अत्र भूपतित्व सर्वत्र तुल्यं भले गम्भीराशयत्वमन्येषु तदभावश्च हेतुर्नोक्तः। उद्देश्यप्रतीतिविरहो भूयकताबीजम्। दुष्क्रम. अभिमतनिर्देशाभावः। यथा नैषधे—

मुखपाणिपदाक्षिणि पङ्कजैः रचिताऽऽन्येष्वपरेषु चम्पकैः।
स्वयमार्चित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम्॥

भीमजा=दमयन्ती स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रिय स्वयमात्मनं भावित स्वीचकार। कामपूजापुष्पमालास्थाने सैवाभूदित्यर्थः। यतः सा मुखपाणि-पदाक्षिणि=आस्यकरचरणनयने, पङ्कजं रचिता। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। अन्येष्वङ्गेषु चम्पकपुष्पैः। भीमजायाः वदनकरचरणनेत्र पङ्कजतुल्य, अन्यदङ्गं चम्पकतुल्यमिति भावः। अत्र 'मुखनेत्रबाहुपादे'त्यादिकामशास्त्रानुसार मुखात्प्रेऽक्षिनिर्देश उचितः। यथा वा तत्रैव—

'क्षितिगर्भधराम्बरालयं तलमध्योपरिपूरिणी पृथक्।'

अत्र 'भूर्भुवः स्वरि'ति महाव्याहृत्यनुसार प्रथमं धरानिर्देशो युज्यते। यथा वा तत्रैव—

'प्रासोत्तुरङ्गोऽपि मतङ्गजोऽपि।'

अत्र मतङ्गजस्य प्राङ्निर्देश उचितोऽभ्यर्हितत्वात्। एवं

भागीरथी हरद्वारे कुरुक्षेत्रे सरस्वती।
अतिपुण्यतमाः स्नाता इन्द्रप्रस्थे यमस्वसा॥

स्नाताः पीताश्च, अतिपुण्यतमाः पुण्यजनकाः। अत्रोदाहरणे यमु-

नाया प्राङ्निर्देश उचित तस्या ज्येष्ठत्वात् । ध्वनितश्चायमर्थो 'गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते' इत्युदाहरता सिद्धान्तकौमुदीकारेण । एतेन यमुनैव प्राचीना गङ्गा तु तया पश्चान्मिलितेति तद्व्याख्यातार ॥ अनवीकृतो यथा नैषधे—

'दरवारमजीव त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन ।'

हे हस, जीवदे प्राणदे त्वयि आत्मनो जीव दत्वा शुध्याम्यनृणीभवामि । जीवाधिकद नल ददाति य तस्मिस्त्वयि तु केन प्रकारेण शुध्यामि । अत्र जीवशब्दस्यानेकवारमुक्ति कवेरशक्ति प्रदर्शयति । अस्य वाक्यभेदात्र कथितपदेऽन्तर्भाव । तस्यैकवाक्यनिष्ठत्वात् । पिष्टपेषणन्यायेन सहृदयोद्वेजकत्व दूषकताबीजम् । पुनरुक्त यथा नैषधे—

रस स्वरक्षणमवेक्ष्य निज निवृत्त विद्याधरेष्वधरता वपुषैव भैम्या ।
गान्धर्वसततिर न गन्धमपि स्वरस्य तस्या विमृश्य विमुखोऽजनि यानवर्ग ॥

यानवर्ग शिबिका-वाहकसार्थ रस तु निजमरक्षणमवेक्ष्य ज्ञात्वा तेभ्यो निवृत्त । विद्याधरेषु भैम्या वपुषैवाधरता न्यूनतामवेक्ष्य निवृत्त गान्धर्ववर्गे भैम्या स्वरस्य=कण्ठमाधुर्यस्य, गन्धमपि नावेक्ष्य निवृत्त इत्यर्थ । अत्र 'तस्या विमृश्य विमुखोऽजनी त्यर्थ पुनरुक्त । 'उक्तार्थानामप्रयोग इति भाष्यादुक्तार्थस्य पुनर्वचन दूषकताबीजम् । हीनोपमो यथा नैषधे—

अमुष्य विद्यारसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम् ।

त्रयी विद्या=वेदलक्षणा अमुष्य नलस्य रसनाग्रे जिह्वाग्रे, नर्तकीव नर्तकीति नारायण । अत्रातिपवित्रायावेदविद्याया नीचजातीय नर्तक्या सहोपमास्तीव हीनेति सूक्ष्मदृशावसातव्यम् । अत्र 'अमुष्य विद्यारसनाग्र वर्तिनीति पाठ्यम् । अधिकोपमो यथा नैषधे—

'गुप्त घटप्रतिभटस्तनि ।

घटस्य प्रतिभटौ स्पर्धिनौ स्तनौ यस्या सा तत्सबुद्धौ हे घटादप्यधिक विस्तृतस्तने इत्यर्थ । अत्र स्तनयोर्घटादप्यधिकमहत्वपरिमाणकथनमसत्यत या लोकाद्विरुध्यते । यथा वा तत्रैव 'सदसत्सशयगोचरोदरी' अत्रोदरस्य सदसत्सशयकथनमेव एव दोष अत्युक्तिर्वा । यद्यप्येतेनोपमेयानां प्रश्च'

तथापि रसहानेः । न प्रतीयते एवमेवोपमायां लिङ्गभेदवचनभेदकालभेदोऽपि दोषो द्रष्टव्यः । कविसमयविरुद्धतया चमत्कारापकर्षकत्वात् ।

तत्र लिङ्गभेदो यथा नैषधे—

> तृणानीव घृणावादान् विधूनय वधूरनु ।
> तवापि ताद्दशस्यैव का पुनर्जनवञ्चना ॥

वधूरनु=स्त्रीरुद्दिश्य, घृणावादान्निन्दावचनानि तृणानीव विधूनयस्वेत्र स्पष्टमन्यत् । वचन-भेदो यथा तत्रैव—

> हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः ।'

हनूमान्=रामदूतत्वेन प्रसिद्धः, तदाद्यैर्यशसा दूतपथः श्वेतीकृतः । अनेन शत्रूणां हसैर्हास्यैरनेनेति निन्दा व्यज्यते । यथा वा वेदे 'अग्निर्नयेभ्राजसः' स्पष्टमन्यत् । अत्रोपमानगतबहुवचनेनोपमेयगतमेकवचनं विरुध्यते पुनर्द्विषां कालभेदो यथा—

> अगच्छदाश्रयाभेदी नलद्वेषी स निःश्वसन् ।
> अभिरामं गृहारामं तस्य राममनःप्रियः ॥

नलद्वेषी स कलिः निःश्वसन् राममनःप्रियः तस्य नलस्याभिरामं गृहारामं गृहोपवनमगच्छत् । स्पष्टमन्यत् । अत्र भाविना श्रीरामेण सह नलस्योपमानत्वं योग्या कालभेदात् । यत्रैको दोषस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति । यथोदाहृते हनूमदाद्यैरिति पद्येऽयमपि दोषः । एवमन्यत्रापि । यत्र तु रसानपकर्षकत्वेन नैषां सहृदयहृदयोद्वेगजनकत्वं तत्र न दोषः । यथा—

> सन्तापशान्तिकारित्वाद्वदनं चन्द्रमा इव ।
> प्राणा इव प्रियोऽयं मे विद्याधनमिवार्जिता ॥

रसादीत्यादिना स्थायिसञ्चारिणोर्ग्रहणम् । कोऽपि रसो रसशब्देन शृङ्गारादिशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरत्यादि व्रीडादिशब्देन वा न वक्तुं युक्त अनास्वाद्यतापत्तेः । तदास्वादसम्भवश्च विभावानुभावादिमुखेनैवेति सर्वालङ्कारिकानुमतः पन्थाः । क्रमेणोदाहरणानि यथा नैषधे—

> शुचेस्तदासीत्सरसोरसस्य सा । शृङ्गारमालिङ्गदधीश्वरयोः ।
> ससंभ्रमा लुप्तरतिः । व्रीडाजडे किमपि सुचय ।

दोष है। दोषभारहित अश्लील दोष होता है। उदाहरण—बहुमानोति—हे भैमि, तुम्हारे कपोलद्वय अङ्ग को ब्रह्मा ने भी खूब पसन्द किया क्योंकि उसने इस तुम्हारे अङ्ग को गौरवर्ण काञ्चन=गुलाबपुष्प से निर्मित किया है। काव्य में ऐसा अर्थ वर्णन करना अश्लीलता है।

आचार्यों ने जैसे नाटकों में मरण आदि का वर्णन दूषित माना है वैसे ही काव्यों में कपोल आदि का वर्णन भी दूषित है। उसका औचित्यानौचित्य स्वयं जानें। जिसमें कोई हेतु न दिखाया गया हो वह निर्हेतु दोष कहलाता है। उदाहरण—आसते इति—हे नल! पृथ्वी पर सैंकड़ों भूमिपति हैं, उनमें आप समुद्र हो और वे सब कूप हैं। आकाश में अनेक चन्द्रमा आदि ग्रह हैं परन्तु सूर्य के साथ किसकी तुलना की जा सकती है। यहाँ भूपतित्व गुण सब में तुल्य है परन्तु नल में गंभीरतादि गुण और अन्यों में उसका अभाव कहना चाहिये था।

जहाँ क्रम बिगड़ता हो वहाँ दुष्क्रम दोष होता है। जैसे—मुखपाणीति—कुण्डिन नगरी में दमयन्ती काम-पूजा के लिए पुष्पमाला की प्रतिनिधि स्वयं थी क्योंकि उसके मुख, हस्त, पैर और नेत्र तो कमल के तुल्य थे और अन्य अङ्ग चम्पक पुष्प के तुल्य थे। यहाँ 'मुख नेत्र बाहु पाद' कामशास्त्र के लेखानुसार मुख के आगे नेत्र का निर्देश होना चाहिए था। दूसरा उदाहरण—'क्षितिगर्भेति—यहाँ 'भूर्भुवः स्वः' इस महाव्याहृति के निर्देशानुसार पहले पृथ्वी फिर पाताल और फिर अम्बर का निर्देश होना चाहिये था। तीसरा उदाहरण—आसीदिति—यहाँ मतङ्ग (हस्ति) का पूर्व निर्देश होना चाहिये था।

चौथा उदाहरण—भागीरथीति—हरद्वार में गङ्गा, कुरुक्षेत्र में सरस्वती और दिल्ली में यमुना स्नान और पान करने से अतीव पुण्यजनक हैं। यहाँ ज्येष्ठ होने से यमुना का पहले निर्देश होना चाहिये था। यमुना का ज्येष्ठत्व 'गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते' इस उदाहरण से व्यक्त है। अनवीकृत दोष का उदाहरण—दत्त्वात्मेति—हे जीवदान करनेवाले हंस, मैं तुम्हें अपना जीवदान करके अनृण हो सकती हूँ परन्तु जीव से

भी अधिक प्रिय नल को देने वाले तुम्हारे लिए मैं क्या देकर अनृण होऊँ। यहाँ जीव की अनेक बार उक्ति अनवीकृत दोष है।

पुनरुक्त का उदाहरण—रक्ष स्विति—दमयन्ती के शिविका-वाहकों का समूह, राक्षसों से अपनी रक्षा न देखकर अर्थात् राक्षस हमें खा जावेंगे—इस बुद्धि से उनसे दूर हट गया। विद्याधरों में दमयन्ती के शरीर की तुलना न देखकर उनसे हट गया, और गन्धर्वों में दमयन्ती के कण्ठ के माधुर्य का गन्ध भी न देखकर हट गया। यहाँ 'तस्या विमृश्य विमुखी-भवनि' इतना अंश पुनरुक्तार्थ है। उक्तार्थ का प्रयोग होना ही नहीं। हीनोपम का उदाहरण—अमुष्येति—इस नल की जिह्वा के आगे वेद-विद्या नर्तकी की तरह नाचती थी। यहाँ पवित्र वेदविद्या की उपमा नर्तकी से की है—यही दोष है।

यहाँ 'अमुष्य विचारसनाग्रवर्तिनी' ऐसा पाठ होना चाहिए। अधि-कोपम का उदाहरण—गुप्तमिति—हे घट से भी अधिक परिमाण युक्त स्तनों वाली दमयन्ती! यहाँ स्तनों का घट से भी अधिक परिमाण कहना लोक में असत्य प्रतीत होता है। और दमयन्ती का उदर है या नहीं कहना असदुपमा अधिकोपम तथा अत्युक्ति है। यद्यपि इससे उपमेयो का प्रकर्ष होता है तथापि रस हानिकारक होने से वह ठीक नहीं। इसी प्रकार उपमा में लिङ्गभेद, वचनभेद और कालभेद भी दोष जानने चाहियें। क्योंकि वे कवि-समय-विरुद्ध होने से चमत्कार का अपकर्ष करते हैं। लिङ्गभेद का उदाहरण—तृणानीवेति—हे पुरुष ! स्त्रियों से क्यों घृणा करते हो, तू भी तो वैसा ही है।

वचन-भेद का उदाहरण—हनूमदाद्यैरिति—हनूमान् आदिकों ने रामा-दि दौत्यजन्य यश से और मैंने (नल ने) शत्रुओं के हास्य से दूत-पथ को श्वेत बना दिया। 'धवलना नीयते हासकीर्त्यो' यहाँ उपमानगत बहुवचन से उपमेयगत एकवचन विरुद्ध है। वेद में भी वचन-भेद दोष मिलता है अग्निरिति—जो ब्राह्मण अग्नि के समान देदीप्यमान थे। कालभेद का उदाहरण—अगच्छदिति—नल का शत्रु और आश्रय ढूँढने वाला वह

क्वचिदिति । यत्र रसोत्कर्षापकर्षकारित्वाभावस्तत्रेत्यर्थः ।

अब पूर्वोक्त दोषों की अदोषता बतलाते हैं—पदवाक्येति—जो पददोष, वाक्यदोष और अर्थदोष पीछे कहे गये हैं उन सब को जहाँ रस के उत्कर्ष का अपकर्षण नहीं होता वहाँ अदोष माना गया है।

'नो कष्टमनुप्रासादौ ।'

यथा नैषधे—

आचष्ट विस्पष्टमभाषमाणाम् ।
तत्याज तोषं परपुष्टघुष्टे ।

परपुष्टघुष्टे=कोकिलकूजिते, स्पष्टमन्यत् । अत्र शृङ्गारे टकारणकारादिवर्णाः कर्णादूषका=अपि अनुप्रासमहिम्ना नास्माता दूषकतया।

'श्लेषादौ नाप्रयुक्तता ।

आदिना अनुप्रासादिसंग्रहः । यथा नैषधे—

तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्ताम् ।

तस्य नलस्य, कण्ठं=ग्रीवामालिङ्ग्यान्यत्र मुखमालिङ्ग्य संस्पृश्य, रसस्य रागस्य तृप्तां सन्तुष्टां, पक्षे रसस्य शृङ्गारादेः तृप्तां परिपुष्टामित्यर्थः । अत्र शृङ्गारादिरसपक्षे रसशब्दः कविभिर्न प्रयुज्यते, विभावादिद्वारैव तस्याभिव्यक्ति स्वीकारादिति प्रागपि निवेदितमस्माभिः । परमत्र तत्प्रयोगो न दुष्यति । श्लिष्टत्वात् । यथावा मम दुर्गाभ्युदये—

देवीस्तोत्रुजंगद्वयं सर्वे नश्यन्त्युपद्रवाः ।
मानं धनं च सत्पुत्रं कलत्रं भवति ध्रुवम् ॥

अत्र नपुंसकोऽपि पुंल्लिङ्गो मानशब्दो न दुष्यति इति भाष्यान्मानशब्दः क्लीबोऽपि कविभिः पुंस्येव प्रयुज्यते । परमत्रानुप्रासवशान्न दोषाय, एवम् ।

प्रतिष्ठा सौकरी विष्ठा गौरवं घोररौरवम् ।
अभिमानं सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥

मिथः स्तोत्रे न सन्दिग्धं,

यथा नैषधे—

चेतोनलं कामयते मदीयम्।

अत्र 'नल कामयते' इत्यादीनि पदानि 'नलं कामयते' इत्यर्थकानि आहोस्वित् तथा न भवते=गच्छति, अथवा 'अनलं कामयते' इत्यर्थकानीति सन्देह। तथापि योग्यतया स्वकलपक्षानुकूलार्थनिर्णयात्, व्याजस्तुतिनिर्वाहकतया गुणता लभन्ते न दोषताम्, व्याजस्तुतेर्भावोत्कर्षकत्वेन गुणत्वात्।

व्यर्थं न यमकादिषु ॥७॥

आदिपदादनुप्रासस्रग्रहः। यथा घटखर्परकाव्ये—

जीयेय येन कविना यमकैः परेण, तस्मै वहेयमुदकं घटखर्परेण।

अत्र 'येन कविना यमकैरह जीयेय तस्मै' इत्येवविवक्षितोऽर्थं ततश्च परेणेति व्यर्थं परन्तु यमके स न दुष्यति। यथा वा तदग्निर्द्विनि नलोदये—

पिकोपिकोपि कोपिको वियोगिनीरमर्ष्यत्।

कोऽपि कश्चन कोपेव कोपिक स्वार्थे कप्रत्यय। पिकोऽपि कोकिलोऽपि वियोगिनी स्त्रीरमर्षयत्कृतवान्। अत्र यमकेऽपिस्योर्न व्यर्थत्वम् अनुप्रासे यथा किराते-सर्वाणिलिङ्गी विदित समाययौ युधिष्ठिर द्वैतवने वनेचर। अत्र द्वितीयवनस्य न व्यर्थत्वम्।

नोकष्टमिति—अनुप्रास म कष्ट=श्रुतिकटु दोष नहीं होता। उदाहरण—आवष्टेति। तत्याजेति—उनका उसके मधुर शब्द को सुनकर कोयल के शब्द में भी घृणा हो गई। यहाँ दोनों उदाहरणों में टकार णकारादिर्णों, शृङ्गार रस में होने से दूषित होते हैं तथापि अनुप्रास महिमा से वे सब यहाँ दूषित नहीं माने जाते। बीभत्सादि रसों में व गुण हो जाते हैं।

श्लेष और अनुप्रास में अप्रयुक्तत्व दोष नहीं होता। उदाहरण तत्कण्ठमिति—नल के कण्ठ के आलिङ्गन करने से तृप्त=तुष्ट, अन्यत्र मुख-

स्पर्शन से तृप्त-परिपुष्ट। यहा शृङ्गारादि रस पक्ष में रस शब्द कवियो से प्रयुक्त नही होता क्योकि विभाव, अनुभाव और सचारी द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति मानी गई है परन्तु यहाँ श्लेष की महिमा से रस शब्द का प्रयोग दूषित नही है। दूसरा उदाहरण—देवीति—देवी की स्तुति करने वाला सारे जगत् को वश मे कर लेता है उसकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाए नष्ट हो जाती हैं वह पूर्ण सम्मान और अतुल धनधान्य प्राप्त करता है, उसकी स्त्री श्रेष्ठ पुत्रवती होनी है।

यहाँ भाष्यकार की उक्ति से नपुसक भी मान शब्द कवियो द्वारा पुल्लिङ्ग मे ही प्रयुक्त होता है परन्तु यहाँ अनुप्रासवश दूषित नही। इसी प्रकार 'प्रतिष्ठा लोकरी' इस पद्य मे भी समझना चाहिये। मिथ इति—परस्पर स्तुति मे सन्दिग्ध दोष नही माना जाता। उदाहरण—चेत इति—मेरा चित्त केवल नल को चाहता है। यहाँ 'न लंका, लका को नही चाहना' अर्थ भी निकल सकता है और 'अनलं कामयते' अग्नि मे प्रवेश करना अर्थ भी हो सकता है तो भी सभी अर्थो का निकलनारूप सन्देह यहाँ दूषित नही।

यमकेति—यमक और अनुप्रास मे कोई अक्षर व्यर्थ नही माना जाता। उदाहरण—योमेयेति—जो कवि मुझे यमक मे जीत लेगा उसका मैं जलवाहक=दास बन जाऊंगा। यहाँ पर परेण शब्द व्यर्थ होता हुआ भी व्यर्थ नही माना गया। रघुवश आदि काव्यकार हरिषेण, कालिदास ने घटखर्परकाव्य की प्रतिद्वन्द्विता में ही नलोदय काव्य लिखा था। पिक इति—किसी कोपयुक्त कोकिल ने वियोगिनी स्त्रियो को पीडित किया। यहाँ अपि और क दोनो व्यर्थ होते हुए भी व्यर्थ नही माने गये। अनुप्रास का उदाहरण—स इति—यहाँ वनेचर मे वन शब्द दूषित नही।

नाश्लीलं भगवत्यादि।

विवक्षितार्थस्य प्रसिद्धत्वादश्लीलार्थानुपस्थितेः। उक्तं च—

भगिनी भगवत्यादि शिवलिङ्ग गुह्यादिषु ।
अभिप्रेतकुमार्यादावश्लीलं नैव दुष्यति ॥

अत्राश्लीलचतुष्टयम् । संवीतादिकमप्यश्लीलं न दुष्यति । यदाहु—'ग्राम्यं घृणावदश्लीलामङ्गलार्थं यदीरितम् । तत्संवीतेषु गुप्तेषु लक्षितेषु न दुष्यति ॥ तत्र—'योदिस्तु या शुक्रनिषेकभूमिरित्यादिसंवीतम् । असभ्यार्थेऽप्रसिद्धं गुप्तम् । यथा सत्राघादिपदम् । लक्षणया स्त्रीचिह्नबोधकं लक्षितं यथा जन्मभूमिः । एवं शान्तबीभत्सादिरसे व्यंग्येऽप्यश्लील न दोपावहम् । तत्र शान्तरसे यथा—'उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसंनिभे । क्लेदिनि स्त्रीव्रणे शक्तिरकृमेः कस्य जायते ॥ अत्र स्त्रीव्रणादि पदानि न दुष्यन्ति । बीभत्से यथा—प्रेतरङ्कः करङ्कादिरयावौ ।

तद्विदोर्नाप्रतीतकम् ।

वक्तुः श्रोतुश्च द्वयोरपि ज्ञत्वे सतीत्यर्थः । यथा कुमारसम्भवे ब्रह्माणं प्रति देवानामुक्तौ—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥

त्वां ब्रह्माणं, प्रकृतिं=मायां, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यादि'ति श्रुतेः । आमनन्ति कथयन्ति । तद्दर्शिनं=प्रकृतेर्द्रष्टारं त्वामेवोदासीनम् । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः । 'कर्तेव भवत्युदासीनः' इति सांख्यकारिकोक्तेश्च । पुरुषं 'क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इति योगसूत्रात्पुरुषपदवाच्यमीश्वरं विदुर्वदन्ति, तत्त्वमस्यादि-वाक्यैरैक्यश्रवणादिति भावः । अत्र प्रकृतिपुरुषौ यद्यपि सांख्ययोगयोरेव प्रसिद्धत्वादप्रतीतौ तथापि तदभिज्ञदेवब्रह्मणोः न दुष्यतः ।

नानुप्रासे हतं नापि लक्षणादाववाचकम् ॥८॥

हतं=निहतार्थमनुप्रासे न दुष्टम् । यथा माघे—

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः ।

अत्र पतङ्गशब्दः शलभे प्रसिद्धोऽपि अनुप्रासमहिम्ना सूर्येऽपि न दुष्यति। लक्षणादाववाचकदोषो न भवति। लक्षणादेरशक्य एव वृत्तित्वात्। यथा—

गङ्गावासी समागतः।

अत्र लक्षणया गङ्गातटवासीत्यर्थः। गङ्गाशब्दस्य तटोऽर्थस्तु न भवति 'प्रतप्यलक्ष्य.' शब्दार्थ इति न्यायात्। गङ्गात्वेन प्रवाहे निवासबाधबुद्धे. गङ्गात्वप्रकारक-प्रवाहविशेष्यक-निवासान्वयबुद्धित्वमेव प्रतिबध्यतावच्छेदकम्। ननु गङ्गात्व-प्रकारकतटविशेष्यकबुद्धित्वमिति।

नाश्लीलमिति—भगवती आदि शब्द अश्लील नही माने जाते क्योंकि वहां बोलने पर अश्लील अर्थ की उपस्थिति नही होती। भगिनीति—यहाँ चार अश्लील हैं—भग, लिङ्ग, गुह्य और प्रेत, ये चारो ही दूषित नही। सबीज आदि भी दूषित नही यथा स्त्रियो की शुक्रनिषेक भूमि, सबाध, जन्मभूमि, इसी प्रकार शान्त और बीभत्स रस जहाँ व्यङ्ग्य हैं वहाँ अश्लील या दूषित नही। शान्तरस व्यङ्ग्य का उदाहरण—उत्तानेति—अर्थात् कीड़े के अतिरिक्त कौन पाटितमण्डूक के उदर के समान दुर्गन्ध स्त्री श्रोणि मे प्रसन्न होता है। बीभत्स मे प्रेत शब्द अश्लील नही।

तद्विदोरिति—वक्ता और श्रोता यदि दोनो ज्ञाता हों तो अप्रतीत दोष नही होता। उदाहरण—त्वामामनन्तीति—हे ब्रह्मन्, पुरुषार्थ में प्रवर्तन करने वाली प्रकृति (माया) तू ही है। और उसका द्रष्टा उदासीन (असङ्ग) पुरुषपदवाच्य ईश्वर भी तू ही है। जैसाकि 'तत्त्वमस्यादि' वाक्यों से दोनो की एकता का सिद्धान्त निर्भ्रान्त स्वीकृत है। यद्यपि प्रकृति और पुरुष शब्द साङ्ख्ययोग मे ही प्रसिद्ध हैं, तथापि इस संवाद मे देवता और ब्रह्माजी दोनो ही अभिज्ञ हैं अत. यहाँ यह दोष नहीं माना जाता। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।

नानुप्रास इति—अनुप्रास मे निहतार्थ दोष नही होता। उदाहरण—पतदिति—आकाशमार्ग से भगवान् कृष्ण के समीप आते हुए नारद मुनि आकाश से गिरते हुए सूर्य के समान शोभित हुए। यहाँ पतङ्ग शब्द

यद्यपि गलत अर्थ में प्रसिद्ध है तथापि अनुशासननिष्ठ होने से सूर्य अर्थ में भी दूषित नहीं होता। लक्षणादाविति—लक्षणादि में अवाचक दोष नहीं होता। उदाहरण—गङ्गायांवासोऽस्ति—यहाँ लक्षणा से गङ्गा-तटवासी अर्थ होता है। गङ्गा शब्द का अर्थ तट नहीं है क्योंकि न्याय कहता है—शब्दार्थं अन्यलभ्य नहीं होता अर्थात् एक शब्द अन्य शब्द के अर्थ को नहीं कह सकता। यही बात 'गङ्गातटेन' इस प्रकार से बतलाई है।

प्रतीत्यव्याघातात् न न्यूनम्।

यथा स्तुतिकुसुमाञ्जलौ—

किमपि नास्ति विना शिवसेवनम्।

शिवसेवनं शिवस्मरणं विना किमप्युत्कृष्टमस्तीति शेषः। न विमर्शः, अत्र 'अस्तिर्भवन्तीपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति भाष्योक्तेः' अस्तीति क्रियापदस्य झटिति प्रतीतेर्न दोषः। यथा वा मम—

अनेके भ्रातरो लोके गेहे गेहे तथापि नौ।
अग्रजो मूलचन्द्राख्यो नेमिरामस्तथानुजः॥

अभूतामिति क्रियापदस्य झटिति प्रतीतिः॥

भिन्नपादे विसन्धिर्न।

दूषणापेक्षया क्लीबत्वमेवमग्रस्तात्पुरस्तात्। यथा—

यदि गर्जति गोमायुः सिंहस्याग्रे तथापि न।
कोपमाप्नोति पञ्चास्यः अनर्हेषु क्षितम्॥

गां वाणीं मिनोतीति गोमायुः शृगालः, पञ्चं=विस्तृतमास्यमस्येति पञ्चास्यः सिंहः। अनर्हेषु=असमानेषु, क्षितं कुत्सितमेवेत्यर्थः। 'अनुहुंकुरुते घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि केसरी'ति भारव्युक्तेः। अत्र भिन्नपादतया सन्ध्यभावो न दुष्यति। एवमन्यत्र।

न समासे यतेर्भङ्गः।

यथा नैषधे—विललास जलाशयोदरे।

ख्यातेऽर्थे न विहेतुता ॥६॥

यथा मम—

पुष्पेषु मल्ली नगरेषु दिल्ली वेदेषु साम क्षितिपेषु रामः ॥

सर्वश्रेष्ठा इति शेषः। 'यतश्च निर्धारणमि'तिसप्तमी । निर्धारणविषये एकवचनमसाधिवति कारके इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । अत्र सुरभि-भारतराजधानीत्वादिहेतवः ख्याता चेति निर्हेतुता न दोष ।

प्रतीति—प्रतीति का बाध न होने पर न्यून दोष नहीं होता । उदाहरण, शिवमिनाशोति—शिव की आराधना करना ही ससार मे सार एव स्थायी वस्तु है और सभी वस्तुएं क्षणभगुर हैं । यहाँ यद्यपि कोई क्रिया नही है तथापि निर्दिष्ट भाष्योक्ति से ऐसे स्थलो मे अस्ति आदि क्रिया की तत्काल ही प्रतीति हो जाती है । तीसरा उदाहरण—अनेक इति—घर-घर मे भाइयो की कमी नही, परन्तु मूलचन्द्र के सदृश ज्येष्ठ भ्राता और नेकीराम के समान कनिष्ठ भ्राता बहुत कम है । यहाँ 'सन्ति' क्रिया की तत्काल प्रतीति हो जाती है । भिन्न इति—भिन्न पाद मे सन्ध्यभाव दोष नही ।

उदाहरण—यदीति—यदि सिंह के आगे शृगाल (गीदड) गर्जना करने लगे तो भले ही करो, सिंह क्रोध नही करता क्योकि छोटो के प्रति बडे अपना बल नही दिखाया करते । यहाँ भिन्न पाद होने से सन्धि का अभाव दूषित नही । नेति—समास मे यति-भङ्ग दूषित नही ।

उदाहरण—विलसत्सेति—ख्यातेऽर्थं इति । प्रख्यात अर्थं मे निर्हेतु दोष नही होता । उदाहरण—पुष्पेष्विति—पुष्पो मे मल्लिका, नगरो मे दिल्ली, वेदो मे सामवेद और राजाओ म श्रीराम सर्वश्रेष्ठ है ।

नान्यवाक्ये समाप्तत्वम् ।

वाक्यभेदे समाप्तपुनरात्त न दोष । यथा रघुवंशे—

न किलानुपयुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः ।
व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ।

तत्र = दिलीपस्य यशोऽन्ये राजानो नानुययुः। यतस्य राज्ये परस्वेभ्यः पराङ्मुखेभ्यः। व्यावृत्ता तस्करता श्रुतौ शब्द एव स्थिता न स्वरूपे, 'पापन्नासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इति खाद्यखण्डनोक्तेः।

ग्राम्यत्वं न हसोक्तिषु।

यथा नैषधे—

सरोरुहोत्ताभिनयेन पाणिना स्थितेऽपि कूरे मुहुरेव याचते।
सखि, त्वमस्मै वितर त्वमित्युभे मिथो नवाऽऽदतुः किलोदनम्॥

अत्र ओदनवाचकः कूरशब्दो ग्राम्योऽपि हास्योक्तौ न दुष्टः।

सर्वेषामपि दोषाणामनुकारे न दुष्टता ॥१०॥

यथा मम—

प्रवृत्तोऽस्य दुराचार आचारो मे न रोचति।

अत्र रोचतीति क्रियापदस्य परस्मैपदत्वं परोक्तत्वात् न दुष्यति, दूरतार्थीकस्य ओलुर्वंदुत्यादेरभावात्।

नान्येति—अन्य वाक्य मे समाप्त पुनरात्त दोष नहीं होता। उदाहरण—न किलेति—अन्य राजा लोग, उस दिलीप के यश का अनुकरण नहीं कर सके क्योंकि उसके राज्य मे तस्करता (चोरी) शब्द केवल बोलने मे ही पाता था, कार्य मे नहीं। ग्राम्यत्वमिति—हास्योक्ति मे ग्राम्यदोष नहीं होता। उदाहरण—सरोजेति—हे सखि! थाल मे भात होने पर भी कमल कोशाकार हाथ बना कर मांगने हुए इस पुरुष को भात दे दो। वह बोली—सखि! तुम दे दो, इस प्रकार परस्पर विवाद के कारण किसी ने भी भात नहीं दिया। यहाँ ओदनवाचक कूर शब्द ग्राम्य होने पर भी दुष्ट नहीं। सर्वेषामिति—सब दोष अनुकरण मे दूषित नहीं होते। उदाहरण—प्रवृत्त इति—यह दुष्ट सदाचार को श्रेष्ठ नहीं मानता। यहाँ रोचति क्रिया दूषित नहीं है परोक्त होने से।

इति साहित्यबिन्दु के तृतीय बिन्दु की हिन्दी टीका।

अथ चतुर्थो बिन्दुः

(रीतिसामान्य-लक्षणम्)

रीतयश्च गुणाः प्रोक्ताः काव्यशोभाकरा यतः ।
ततस्तासां च तेषां च क्रियतेऽद्य निरूपणम् ॥१॥

काव्यत्वेन काव्यशरीरभूतौ शब्दार्थौ काव्यात्मभूता रसादयश्च बोध्याः। तथाच रीतिगुणानामिद लक्षणं पर्यवस्यति। परम्परया रसाद्युत्कर्षजनकत्वे सति शोभाजनकत्वं रीतित्वम्। अत्र व्यवधानेन कार्यजनके जनकत्वव्यवहाराभाव इति वाच्यम्। व्यवधानेनाप्यनुमित्यादिजनके व्याप्त्यादिज्ञाने जनकत्वव्यवहारदर्शनात्। साक्षाद्रसोत्कर्षजनकत्वे सति शोभाजनकत्वं गुणत्वम्। निरूपणमिति। तच्च लक्षणप्रमाणज्ञापनम्। लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिर्भवति मान्यमेति। तत्र लक्षणमसाधारणो धर्मः। समानासमानजातीयव्यवच्छेदक वा लक्षणम्। प्रमितिकरणतावच्छेदक च प्रमाणमिति कृतमनल्पजल्पनेन।

रीतय इति—रीति के प्रवर्तक वामनाचार्य हैं। वामन के ग्रन्थ में रीति का जो महत्व दिखलाई पड़ता है वह किसी भी आलंकारिक ग्रंथ में नहीं है। वामन ने रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। वह रीति है क्या वस्तु ? वामन कहते हैं कि—'पदो की विशिष्ट रचना ही रीति होती है। पदो मे विशिष्टता गुणो के कारण ही आती है अत रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है। रीति का प्राचीन नाम मार्ग भी है। भामह और दण्डी ने दो ही रीति मानी हैं—वैदर्भी और गौडी। परन्तु वामन और पीछे के आचार्यों ने तीन मानी हैं—वैदर्भी, गौडी और लाटी। गुण इति—गुणो का सर्वप्रथम वर्णन करनेवाले भरत मुनि हैं उन्होंने दश प्रकार के काव्य-गुण बताये हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति। वामन ने भी इन

गुणों को माना है। परन्तु वह गुणों को दो प्रकार के मानता है—शब्दगत तथा अर्थगत। इन दस गुणों के स्थान पर भामह ने, जो सबसे प्रथम प्राचीन आचार्य हैं, तीन ही गुण माने हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। इसी मत का अवलम्बन मम्मटादि ने और प्रकृत ग्रन्थकार ने भी किया है। वास्तव में पक्ष भी यही ठीक है क्योंकि वामन से स्वीकृत अन्य सभी गुणों का तीनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यह अन्तर्भाव यहाँ दिखाया जाता है। काव्येति—यहाँ काव्य शब्द से उसके शरीरभूत शब्द और अर्थ हैं और काव्य का आत्मा रसादि है। दोनों का निर्गलित लक्षण यह है—परम्परा संबन्ध से रसोत्कर्षजनक रीति, और साक्षात् सम्बन्ध से रसोत्कर्षजनक गुण होते हैं। व्यवधान में भी कारणता रहती है, जैसे कि अनुमिति के प्रति व्यवहित व्याप्त्यादि ज्ञान भी कारण माना जाता है। निरूपणमिति—लक्षण और प्रमाण का ज्ञापन ही निरूपण होता है। लक्षण और प्रमाण के बिना किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती। असाधारण-धर्म या समानजातीय और असमानजातीय से हटाने वाला लक्षण होता है। प्रमितिकरणता का अवच्छेदक प्रमाण होता है।

(रीतिभेदा)

तत्तद्रसोपकारिण्यः तत्तद्देशसमुद्भवाः।
भवन्ति रीतयो गौड़ी वैदर्भी लाटिका तथा ॥२॥

तत्तदिति—वीरशृङ्गारादिरसानुसारेत्यर्थः। सर्वादिमे काव्यालंकारनिबन्धे भामहेन 'गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्' इत्यादिना रीतिर्मनाक् स्पृष्टा। उद्भटरुद्रटप्रभृतिभिः परीक्षिता। वामनेनास्या महत्त्वं वर्धितम्। गौड़विदर्भलाटदेशोद्भवैः कविभिः सम्मततयाख्यात्रयं सञ्जातम्। वामनोऽप्याह—गौडविदर्भादिषु दृष्टत्वात्तत्समाख्या न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानामिति। गौड़देशः पुरुक्षेत्रम्। गौडानां तस्यैवादिजन्मभूमित्वादित्थं निर्दिष्टा गिरः। नागपुराद्विदर्भदेशः। मालवात्पश्चिमेन लाटदेशः।

तत्तदिति—क्रमशः गौड़ी वीररस का, वैदर्भी शृङ्गार का और लाटी

अद्भुत रस का उत्कर्ष करती है। पदों के सङ्घटन=रचना को रीति कहते हैं। जिस प्रकार पुरुष अथवा स्त्री की शरीर-रचना देखकर उसके कठिनता, मधुरता, सुकुमारता आदि गुण का ज्ञान हो जाता है और उस देहधारी की विशेषता ज्ञात होती है उसी प्रकार काव्य में रचना से होता है। भामह ने रीति का सङ्केतमात्र किया है। दण्डी आदि ने भी उस पर विचार किया परन्तु वामन ने काव्य की आत्मा को ही रीति मान कर उसको गौरवान्वित बना दिया। गौड़, विदर्भ और लाट देशों के कवियों ने क्रमशः इनको अपनाया है जिससे इनकी तीन ही संज्ञाएं हो गईं। गौड़ देश निःसन्देह कुरुक्षेत्र-देश है, नागपुर (सी० पी०) आदि विदर्भ, और मालवे से पश्चिम की ओर लाट देश माना है।

(रीतीनां लक्षणानि)

गौड़ी दीर्घसमासास्यादनुप्रासान्विता तथा।
अल्पवृत्तिस्तु वैदर्भी लाटिका मृदुभिः पदैः ॥३॥

तत्र—गौड़ी गाढबन्धबुद्धर्षात—सहृदयतानिपुणीकृतान्तः करणैरेव कविभिर्निर्मिता भव्यतामाधत्ते। यथा मम दुर्गाभ्युदये—
'यत्पूजनीय-कमनीयपदारविन्द—प्रस्यन्दमानमकरन्दसुधा नराणाम्।
किंकार्यमार्यकरणीयमनाप्यमास्ते मो साध्यते खलु मदन्न परत्र लोके॥
यत्तु हर्षचरिते—बाणेन गौडेष्वक्षरडम्बर' इत्युक्तं तत्पक्षपात-विजृम्भणम्। गौड़महाकवीनां निबन्धेषु तत्त्वशून्यतायाः केनापि सम्भावयितुमशक्यत्वात्। अत्र सानुप्रासो दीर्घसमासः चमत्कारकारीनाक्षरडम्बरः।

वैदर्भी नैषधकारेण श्रीहर्षमिश्रेण 'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि। इत्यादिना व्यञ्जनावृत्त्या बहु प्रशंसिता। तत्र वैदर्भी दमयन्ती रीतिश्च। नैषधो नलः, पक्षे प्रशंसाद्वारा लक्षणया नैषधकारः। उदाहरणं तस्यैव—'चलन्नलंकृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेशपेशलः। प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः॥ आनन्द-निर्निमेषनेत्रैः नगरवासिभिर्लोकैर्नलो व्यलोकि दृष्टः,

धोरणः। वाहस्यास्वस्य वाहे संचारणे उचितो वेगो यस्य सः। स्पष्टमन्यत्।

अत्र स्वल्प एव समासः अनुप्रासश्च। यथा वा मम दुर्गाभ्युदये—

'अपारसंसारसमुद्रमध्ये निमज्जतां या शरणागतानाम्।
विनाश्य दुःखान्यखिलानि कामं दत्ते निकामं भुवि भावुकानाम्॥

लाटिका तु लक्षणेनैव कृतबहुप्रशंसेतिकृतमस्याः प्रशंसया।
उदाहरणं नैषधे—

'नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम्॥

तदीक्षणे=भैमीनेत्रे, नलिनं कमलं, मलिनं शोभाहीनं विवृण्वती। पृषतीं हरिणीमस्पृशती=नेत्रविषयेऽगणयन्ती, अञ्जनाञ्चिते खञ्जनमपि रुचिगर्वरहितं कुर्वाते। अत्र सर्वाणि पदानि मृदूनि सन्ति। यथा वा मम सुलतानचरिते काव्ये—

'निस्तन्द्रचन्द्रवदनाः सदनानि हित्वा सद्यः समीयुरखिला महिलाः क्षणेन।

क्षणेन हर्षेण, दानेन वा अपवर्गे तृतीया। अपवर्गः फलप्राप्तिरिति कौमुदीकाराः। समासा रीतिमार्गा गुणाननुवर्तामहे। भोजो गुणान्प्रशंसमाह 'रीतियुक्तमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्। अपर आह—'शब्दार्थयोर्निबन्धेऽपि गुणो यदि न विद्यते। विधीयन्ते न धन्याभिर्भावः स्त्रीरविवर्जिताः॥

गौड़ीति—दीर्घ समास तथा सानुप्रास रचना को गौड़ी रीति कहते हैं। अल्पसमासवाली रचना को वैदर्भी और कोमल-पद-युक्त रचना को लाटिका रीति कहते हैं। इनमें प्रकाण्ड पण्डितों के रचना करने योग्य रीति 'गौड़ी' है। उदाहरण—सम्पूजनीयेति—भगवती के पूजनीय तथा नमनीय पदारविन्द को सेवन करने वाले भक्तों का कौनसा ऐसा श्रेष्ठ कार्य है जो इस लोक में तथा परलोक में सिद्धि को प्राप्त न हो सके। हर्षचरित में बाण ने गौड़ों की कविता को आडम्बर-पूर्ण कहकर घृणा की दृष्टि से देखा है, यह उसकी स्वकल्पना है और कवि के निबन्धों में उच्छृङ्खलता कहीं भी नहीं। उन्होंने स्वयं हर्षचरित में दीर्घ-वृन्द और लम्बे समास वाले अनेक उदाहरण दिये हैं जो अनुपयुक्त समझकर हमने यहां नहीं दिखाये।

नैषधकार हर्षमिश्र ने व्यञ्जना वृत्ति से वैदर्भी रीति की पूर्ण प्रशसा की है। यथा—हे वैदर्भि दमयन्ति तथा रीति ! तू धन्य है तूने अपने उदार गुणो से नल के पक्ष मे नैषधकार हर्ष को मुग्ध कर दिया है। यहाँ वैदर्भी पद से दमयन्ती और रीति दोनो का ग्रहण है। उदाहरण-चलन्नलमिति—अश्व के ऊपर सुन्दर लगने वाले वेश को धारण करने वाले अश्व पर बैठकर मार्ग मे चलते हुए नल को आनन्दपूर्ण निष्पन्द नेत्रो से लोगो ने देखा। दूसरा उदाहरण अपारेति—जो भगवती दुर्गा, अगाध ससाररूपी समुद्र मे डूबते हुए तथा शरण मे आए हुए भक्तो के सब दु ख हटाकर उनकी सब कामनाए पूर्ण कर देती है ॥

लाटिका रीति की तो लक्षण मे ही बहुत प्रशसा हो चुकी है। उदाहरण—नलिनमिति—दमयन्ती के नेत्र कमल को मलिन कर रहे हैं हरिणी (मृगी) को तो नेत्र के विषय मे घृणित समझते है और अञ्जन से युक्त वे नेत्र खञ्जरीट को भी कान्ति के गर्व से रहित बना रहे हैं। दूसरा उदाहरण निस्तद्र-चन्द्रेति—पूर्णचन्द्र के समान मुखवाली वे सभी महिलाए क्षणमात्र मे अथवा हर्षातिरेक मे प्रफुल्लित हो वहाँ शीघ्र आ पहुँची। क्षणेन इति—यहाँ फलप्राप्ति मे तृतीया है। अब रीतियो की बात समाप्त हुई। गुणो का प्रसङ्ग प्रकृत मे है। भोज ने गुणरहित काव्य नही माना। अन्य विद्वानो ने भी यही स्वीकार किया है कि जैसे दुग्ध रहित गौ ग्राह्य नही होती वैसे ही बिना गुण काव्य भी अग्राह्य है।

(गुण-विभाग)

गुणा माधुर्यमोजश्च प्रसादश्चेति ते त्रयः।

(माधुर्यलक्षणम्)

चित्तद्रवणताह्लादो माधुर्यमिष्यते ॥४॥

सहृदयहृदयद्रवीभावरूप आनन्दविशेषो माधुर्यम्। यदाहु- काव्यप्रकाशकृतः 'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणमि'ति। शृङ्गारादिष्वनुभवसिद्धमेवाह्लादजनकत्वं सदेव माधुर्यमिति तेषां तात्पर्यम्। तत्र आह्लाद-

जनकत्वापेक्षया लघुन आह्लादत्वस्यैव माधुर्यपदप्रवृत्तितावच्छेदकत्वौचित्यात्। वामनः पृथक्पदत्वं माधुर्यमाह। 'असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्। माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः॥ इति च वक्रोक्तिजीवितकारः।

ध्वनिकारोऽपि 'शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः। तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठतीत्याह॥ भामहस्तु 'श्रव्यत्वं माधुर्यस्य लक्षणमाह। तन्न। ओजःप्रसादयोरपि तत्सत्वेनातिव्याप्तेः।

गुणों का विभाग करते हैं—माधुर्यमिति—गुण तीन प्रकार के होते हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। माधुर्य का लक्षण—चित्तेति—जिस में चित्त द्रुत हो जाय ऐसा आनन्द-विशेष माधुर्य होता है। काव्य-प्रकाशकार भट्टमम्मट ने आह्लादकत्व=अर्थात् आह्लादजनकत्व माधुर्य माना है परन्तु वह ठीक नहीं क्योंकि आह्लादजनकत्व की अपेक्षा केवल आह्लादत्व को माधुर्य मानने में लाघव और औचित्य है। वामनाचार्य ने माधुर्य का लक्षण लम्बे-लम्बे समास न रख कर पदों का अलग-अलग रखना बताया है। वक्रोक्तिकार ने समासरहित सुन्दर पदों वाले सुकुमार मार्ग का गुण 'माधुर्य' कहा है।

ध्वनिकार ने शृङ्गार को परम मधुर रस माना है। जहाँ शृङ्गार है वहीं पर माधुर्य गुण रहता है, ऐसा भी कहा है। आचार्य भामह ने श्रुतिसुखता ही माधुर्य गुण माना है, पर वह ठीक नहीं क्योंकि श्रुतिसुखता तो ओज और प्रसाद गुण में भी रहती है॥४॥

संयोग-करुणादिषु क्रमात्प्राबल्यमस्य हि।

अस्य माधुर्यस्य, करुणादीत्यादिना विप्रलम्भशान्तयोः परिग्रहः। हास्यादेरपगमेऽपि क्रमशः प्राबल्यं सम्भवति। संयोगादिशब्दा उपलक्षणानि तेन सम्भोगाभासादिष्वपि माधुर्यस्य स्थितिर्निर्बाधा। सम्भोगादिषु च यथोत्तरमुत्कर्षजनकत्वं सहृदयहृदयावर्जनात्।

(ओजोलक्षणम्)

चित्तविस्तृतिरूपा हि दीप्तत्वमोजः प्रकीर्तितम्॥५॥

दीप्तत्वमोजः । तच्च चित्तस्य विस्ताररूपम् । चित्तविस्तारो वीरादि-रसास्वादेन जायमानश्चमत्कारोद्बोधः । काव्यप्रकाशकृन्मम्मटः—चित्तवि-स्ताररूपदीप्तत्वजनकमोज इत्याह । तदसत् । वीरादिरसेभ्यो जायमानदीप्त-त्वस्यैवोज. स्वीकारेणोपपत्तौ तज्जनकत्वरूपधर्मान्तरकल्पने गौरवात् ॥५॥

संयोगेति—संयोगादि माधुर्य का विषय है। संयोग शृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ, शान्त रसो मे क्रमशः माधुर्य बढ़ा हुआ रहता है क्योंकि यहाँ हास्यादि नही रहते। संयोगादि शब्द यहाँ उपलक्षण हैं अत संयोगाभासादिकों में भी माधुर्य निर्बाध रहता है। संयोगादिकों मे माधुर्य की यथोत्तर उत्कर्षजनकता रहती है। उसमें सहृदयो का हृदय ही प्रमाण है।

चित्तइति—चित्त की विस्तृतिस्वरूपा दीप्तता ही ओज कही गई है वह दीप्तता चित्त-विस्तृति से अभिन्नरूपा है। चित्त की विस्तृति वीरादि रसों के आस्वाद से जायमान जो चमत्कारोद्बोध है वह तद्रूपा है। काव्य-प्रकाश मे चित्तविस्ताररूप दीप्तत्वजनक ओज का लक्षण माना है पर वह ठीक नही क्योंकि दीप्तत्व को ही ओज मानने मे लाघव है ॥५॥

क्रमेणाधिकता चास्य वीरेबीभत्सरौद्रयोः ॥

अस्येत्योजस. । वीरे जिगीषेव, वैरिवशीकरणमात्रस्योद्देश्यत्वात् । बीभत्से जुगुप्सितविषये तितिक्षा । रौद्रे त्वपकारिणि जिघांसेतिसुतरां क्रमशो दीप्तेराधिक्यम् । पूर्ववद्वीरादिशब्दानां वीराभासाद्युपलक्षणत्वमवधेयम्।

(प्रसाद-लक्षणम्)

व्याप्नो भवति यच्चित्तेऽनलः शुष्केन्धने यथा ॥६॥

अग्निर्यथाशुष्केन्धने व्याप्तो भवति तद्वच्चित्ते स प्रसादः ॥६॥

क्रमेणेति—ओज की वीर, बीभत्स और रौद्र रसो मे क्रम से अधिकता होती चली जाती है क्योंकि वीर मे जिगीषा, बीभत्स मे तितिक्षा और रौद्र मे जिघांसा होती है। यहाँ भी वीरादि शब्द वीराभासादि के उपलक्षण हैं।

प्रसाद का लक्षण कहते हैं व्याप्तो भवतीति—जैसे सूखे इन्धन में अग्नि झट से व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार जो गुण चित्त में तत्काल व्याप्त हो जाय उसे प्रसाद कहते हैं ॥६॥

स प्रसादो मतो धीरैः सर्वत्र कृतसंस्थितिः ।

सर्वत्रेति । रसेषु रचनासु चेत्यर्थः । रचनापक्षे सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव इति भाष्यात्पुंवद्भावः । तत्र वीररौद्रादिषु शुष्केन्धनाग्निवत् । शृङ्गारकरुणादिषु सिताया स्वच्छजलवदिति विशेषः। स्थितिश्चास्य रसेष्वाधेयतया रचनासु च व्यञ्जकतयेति विवेकः ।

एषां शब्दार्थनिष्ठत्वं गुणवृत्त्या मतं बुधैः ॥७॥

एषां=माधुर्यादिगुणानां, शब्दार्थनिष्ठत्वं=मधुरः शब्दो मधुरोऽयमर्थ इति व्यवहारो गुणवृत्त्योपचारादेव। आत्मगुणानां शौर्यादीनां शरीरनिष्ठत्वमिव । आत्मनिष्ठस्य सुखादेर्मम देहः सुखीत्येवं शरीरनिष्ठत्वेनोपलम्भनं वा शरीरस्यैव सुखाद्यधिकरणतावच्छेदकत्वात् । अर्थात्—माधुर्यादिगुणानां रसैकनिष्ठत्वेऽपि परम्परासंबन्धेन रसाभिव्यञ्जकशब्दार्थनिष्ठत्वम् । यत्तु-रसगङ्गाधरकारेण 'शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेः सत्त्वादुपचारो न कल्प्य इत्युक्तं, तदसत् । क्वचिद्वीररसे शब्दार्थयोः सत्त्वेऽपि माधुर्यादेरनुपलम्भात् । रसान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन रसधर्मत्वकल्पनस्यैवौचित्यात् ।

यच्च तेन दृष्टान्तभूतस्य आत्मनो निर्गुणत्वात्तत्र गुणानां स्थितिरनुचितैवेति प्रदर्शितं, तदपि न विचारसहम्। वेदान्तनयेऽपि व्यावहारिकस्यात्मनः सगुणत्वात् । अतएव न्याये वैशेषिके चात्मनो गुणाः स्वीक्रियन्ते । अतिविस्तृतं चैतदस्माभिर्व्याख्यायां प्रवृत्तौ विस्तरेण । अयमत्र विवेकः 'गुणाः शौर्यादिवदङ्गिनस्तस्याविशेषवत् । हारादिवदलङ्कारा दोषाः बधिरतादिवत् ॥७॥ ननु वामनादय. "श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय ॥' इति दशविधगुणानङ्गीकारयांगुणानामनभि क्यं भवता त्रयएव मता इत्याशंकायामाह—

यह गुण समस्त रसों और सम्पूर्ण रचनाओं में रहता है। यहाँ

रचना-पक्ष मे—'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इस भाष्य-प्रामाण्य से पुंवद्भाव हो गया। यहाँ यह भी विशेष द्रष्टव्य है। वह प्रसाद, वीर, रौद्रादिकों मे शुष्केन्धन मे अग्निवत् और शृङ्गार-करुणादिकों मे सितादि मे स्वच्छ जलवत् आविष्ट हो जाता है। प्रसाद की रसों मे स्थिति आधेयतासंबन्धेन और रचनाओं मे व्यङ्ग्यतासंबन्धेन रहती है।

एषामिति—इन माधुर्यादिकों को शब्द अथवा अर्थ का गुण लक्षणा वृत्ति से माना जाता है जैसे मधुर शब्द मधुर अर्थ। जिस प्रकार शौर्य आत्मा का ही धर्म है परन्तु कभी-कभी इसके आकार मे ही वीरपना है ऐसा लाक्षणिक प्रयोग होता है। अथवा आत्मनिष्ठ सुखादि का 'मेरा देह सुखी' है इस प्रकार शरीरगतत्वेन उपलम्भ होता है अर्थात् शरीर को ही सुखादि के अधिकरणता का अवच्छेदक होने से। माधुर्यादि गुण यद्यपि रस में रहते हैं तथापि परम्परासबन्ध से रसाभिव्यञ्जक शब्दार्थ मे भी रहते हैं। रसगङ्गाधरकार ने उपचार को नहीं माना, यह गलती है। नीरस में शब्दार्थ हैं गुण नहीं और जो दृष्टान्तभूत आत्मा को निर्गुण मान कर उसमे गुणों की स्थिति का अनौचित्य रसगङ्गाधरकार ने कहा है, वह भी गलत है, क्योंकि वेदान्त मे भी व्यावहारिक आत्मा को सगुण माना है। इसीलिए न्याय और वैशेषिक भी आत्मा को सगुण मानते हैं। यहाँ यह निष्कर्ष है—गुण माधुर्यादि शौर्यादिवत् हैं, गौडी आदि रीतियाँ अङ्गरचना के सदृश, उपमा आदि अलंकार हारादि के तुल्य और दोष-बधिरता (बहरापन) आदि के समान हैं ॥७॥

प्रश्न—वामनादि पण्डितों ने श्लेषादि दश शब्दगुण और दश ही अर्थगुण माने है फिर तुमने उनसे विरुद्ध तीन ही कैसे माने ? उत्तर—

त्रिष्वेवान्तर्भवन्त्यन्ये दोषहानात्तु केचन ।
भजन्त्यन्ये सदोषत्वं क्वापि तस्मात्त्रयो मताः ॥८॥

अयमर्थः—वामनोक्ता दशगुणास्त्रिषु व्यवतिष्ठन्ते। तथाहि—श्लेषो-दारताप्रसादसमाधीनामोजोव्यञ्जकघटनायामन्तर्भावः । चतुर्णामेषां

गाढबन्धतया दीप्तिहेतुत्वात्। माधुर्यन्तु तेषामस्मदभ्युपगतमाधुर्यव्यञ्जकमेव। समता तु सर्वत्रैकरूपा दोषः प्रतिपाद्योद्भटत्वानुद्भटत्वाभ्यामेकस्मिन्नेव पद्ये मार्गभेदस्येष्टत्वात्। अन्यथा वक्तृवाच्याद्यौचित्येन रचनाद्यौचित्यं भज्येत। ग्राम्यत्वकष्टत्वदोषयोस्त्यागात्कान्तिसौकुमार्ययोर्गतार्थता। कान्तिसुकुमारते लक्षिते भोजेन—'यदुज्ज्वलत्वं बन्धस्य काव्ये सा कान्तिरुच्यते। अनिष्ठुराक्षरप्राय सुकुमारमिति स्मृतम्॥

प्रसादगुणेन चार्थव्यक्तेः प्रसादस्य तद्व्यञ्जकत्वादिति। एवमर्थगुणाना मध्ये श्लेषओजोभेदाश्च वैचित्र्यमात्ररूपा रसोपकारित्वातिशयविरहात्। अन्यथा प्रतिश्लोकमर्थवैचित्र्याद्गुणभेदापत्तेः। प्रसादमाधुर्यसौकुमार्योदारतासमता साभिप्रायत्वात्मकोज-प्रकारार्थव्यक्तिरूपतयप्रधानीकृततत्त्वामङ्गलत्वाश्लीलग्राम्यभग्नप्रक्रमादिदोषाणां त्यागेन स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य रसध्वनि-रसवदलंकारयोश्च स्वीकारेण गतार्थाः। समाधिरपि न काव्यगुणोऽपि तु काव्यशरीरमात्रनिर्वर्तकः। भामहेनापि—'माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः। केचिदोजोऽभिधित्सन्त' इत्येवं त्रय एव गुणा उपादीयन्ते।

विवृति—कुछ गुणों का कुछ दोष त्याग से और कुछ होने से तीन में अन्तर्भाव हो जाता है। श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद ये सब ओज में अन्तर्गत हो जाते हैं, क्योंकि चारों ही गाढबन्ध होने से दीप्ति के कारण हैं। उनमें स्वीकृत माधुर्य हमारे माधुर्य का व्यञ्जक है ही। मार्गभेदरूपा समता कहीं दोष हो जाती है अर्थात्—जहाँ उद्धत अर्थ है वहाँ कोमल रचना दूषित है प्रतिपाद्यार्थ के प्रौढ और अप्रौढ होने पर मार्ग-भेद करना आवश्यक है अन्यथा वक्ता और वाच्यार्थ के औचित्य से जो रचनादि का होना माना जाता है उस सिद्धान्त का भङ्ग हो जायेगा। ग्राम्यत्व और कष्टत्व दोष के त्याग से कान्ति और सुकुमारता गुण गृहीत होते हैं।

अर्थव्यक्ति नामक गुण की प्रसादनामक गुण से गतार्थता स्पष्ट है। इस प्रकार दश शब्दगुणों का अन्तर्भाव दिखाकर अब दश अर्थगुणों

का अन्तर्भाव दिखाते हैं—एवमर्थगुणानामिति—श्लेष और ओज के भेद वैचित्र्यमात्र हैं, गुण नहीं क्योंकि उनमें कोई रसोपकार नहीं होता। केवल अर्थवैचित्र्य से गुणता नहीं आती। प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, समता साभिप्राय ओज, अर्थव्यक्ति और कान्ति, नामक गुण अनवीकृत, अमङ्गलरूपाश्लील, ग्राम्य, भग्नप्रक्रमादि दोषों के त्याग में स्वभावोक्ति अलङ्कार, रसध्वनि और रसवदलंकार के स्वीकार से गतार्थ हैं। समाधि भी कोई गुण नहीं। इस प्रकार भामहादि ने तीन ही गुण माने हैं ॥८॥

(माधुर्यादिगुणव्यञ्जका समासादय)

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना मता।

असमासा अल्पसमासा वा रचना माधुर्ये भवति, यथा नैषधे—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथा तथाद्रियन्ते न बुधा सुधामपि।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥

क्षितिरक्षिणो भूपालस्य यस्य नलस्य कथाः प्रजापालनादिरूपा निपीय श्रुत्वा बुधा सुधामपि तथा नाद्रियन्ते न मन्यन्ते स सितच्छत्रं श्वेतातपत्रं कृतं कीर्तिमण्डलं येन स नलो महोज्ज्वलः शुचिर्महसां तेजसां राशिरासीत्। अत्र पूर्वार्धे समासाभाव उत्तरार्धे त्वल्पसमासः। यत्त्वत्र रसगङ्गाधरकारेण लोलालकावलीति मुदामुदारामुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि इत्यादि च पद्यद्वयमुदाहृतं तत्र मधुरम्, तत्र लोलेति मुल्लेति च पद्यांशद्वयस्य व्रीडाजुगुप्साव्यञ्जकत्वेन सन्धावश्लीलदोषदुष्टत्वात्। यदपि च तेन तत्तद्गुणरचनापरिचयार्थं किमपि वर्जनीयत्वमुक्तं तदपि न विचारसहम्। स्वकपोलकल्पितनियन्त्रणस्य कव्यसम्मतत्वात्। अयं च शृङ्गारे रेफघटितसंयोगस्यासकृत्प्रयोगं स वर्जनीयमाह। परन्तु स्वयं तिर्यग्ग्रीवं यदद्राक्षीत्स्निग्धपत्राकरोज्जगत्' इति प्रायुक्त किं च स एव सवर्णानां स्वानन्तर्यं किंचिदश्राव्यं दोषमाह। परन्तु स्वयं मुदितं च सकलललनाचूडामणीति प्रयुक्तवान्।

समासस्य च बाहुल्यं रचना विकटौजसि ॥६॥

प्रोजोगुणे समासप्राचुर्यमुद्धटरचना च यथा—

'उद्वृत्त मत्त दैत्येन्द्रहृत्याविस्तनखोद्भटः ।
दंष्ट्राकटकटात्कारक्रूरवक्त्रोऽवतान्नृहिमुः ॥

उद्वृत्तस्य निर्मर्यादस्य मत्तदैत्येन्द्रस्य=सगर्वहिरण्यकशिपोर्हृत्याया विता निपुणा ये नखास्तैरुद्भटः । दंष्ट्राया कटकटात्कारेण, वक्त्रैः प्रवृत्तसादित्वात्पाप् । सजादिराकृतिगणः तेन 'नमुनें' इति सूत्रे टायामादेश इति भाष्यप्रयोग सङ्गच्छते । विभुर्नृसिंहोऽवतादक्षत्विति प्रार्थने लोट् । नृसिंहस्य नखानामुद्भटत्व दंष्ट्रायाः क्रूरत्व च तैत्तिरीयश्रुतावुक्तम्— 'वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि नरसिंहः प्रचोदयात् ।

अवृत्तिरिति—बिलकुल समास न होना अथवा थोडा समास होना माधुर्य गुण की रचना मानी है । उदाहरण—निपीयेति—जिस राजा नल की प्रजापालनादि यशाओं का पान कर विद्वान् अमृत को भी तनुन्य आदर नहीं करते कीर्तिसमूह रूपी श्वेतवस्त्रधारी वह नल महा तेजस्वी और महान् शृङ्गारी था । यहाँ पूर्वार्ध में समास का सर्वथा अभाव और उत्तरार्ध में थोडा समास है । यहाँ मधुर रचना के दो उदाहरण रसगङ्गाधरकार ने दिये हैं । परन्तु वे दोनों ही उदाहरण ठीक नहीं, क्योंकि सन्धि होने पर वे अश्लील हो जाते हैं । और जो रसगङ्गाधर कार ने उत्तरगुणों की रचना के लिए कुछ वर्जनीय दोष बताये हैं—वे भी ठीक नहीं क्योंकि प्राचीन आचार्यों के संकेत के बिना स्वकल्पित दोष मान्य नहीं हो सकते । देखिये रसगङ्गाधरकार ने शृङ्गार रस में रेफ-घटित संयोग का दो या तीन बार योग करना दूषित माना है परन्तु स्वय उसको करते हैं यथा 'योद्धाओं' और मजर्ग्ं वर्णों का अपने से आगे होना वे अभव्य दोष बतलाते हैं परन्तु स्वय 'सकललनना' ऐसा लिखते हैं ।

समासस्येति—समास की अधिकता और उद्धत रचना ओजगुण में आवश्यक है ।

उदाहरण—उद्वृत्त इति—निर्मर्याद और मदोन्मत्त जो दैत्येन्द्र (हिरण्यकशिपु) उसकी हत्या करने में निपुण जो नख उनसे कठिन दंष्ट्रा के कटकटाकार से क्रूर है मुख जिसका वे भगवान् नृसिंह रक्षा करें। यहाँ ओजस्विनी घटना है। नृसिंह के नखों की तीक्ष्णता और द्रंष्ट्रा की क्रूरता तैत्तिरीय श्रुति में भी वर्णित है। देखिये जो अवतारवाद को केवल पौराणिक मानते है वे परास्त हैं क्योंकि वेदो मे भी पद पद पर अवतारवाद का वर्णन हुआ है। इतिहास जैसे ब्राह्मण-भाग में है वैसे मन्त्र-भाग में भी पर शत स्थलों में प्राप्त होता है।

प्रसादे रचना ज्ञेया श्रुतमात्रार्थबोधिका।

शब्दश्रवणानन्तरमविलम्बेनार्थबोधप्रियी रचना प्रसादस्य। यदाह वक्रोक्तिजीवितकारः अक्लेशव्यञ्जिताकूत झटित्यर्थसमर्पणम्। दण्डीत्वेनमेवं प्रशसति—'अयं सर्वरसव्यापी काव्यजीवातुरिष्यते। अनेन न विना सत्य स्वदते काव्यपद्धतिः॥ रसगङ्गाधरकारेण—'चिन्तामीलितेत्युदाहरणे 'मुग्धे' इति द्वयर्थपद प्रयुक्त तन्न मन प्रसादकरम्। तस्य सदिग्धतया श्रुतमात्रेणार्थबोधजनकत्वाभावात्। यदपि च— वाचा निर्मलया सुधामधुरया या नाथ, शिक्षामदा' इति पद्यमुदाहृत तत्रापि च 'शिक्षामदा' इत्यादिपदानां कुसन्धिना भ्रमजनकत्वान्न प्रसादकत्वम्। यतोऽत्र स्व शिक्षाम्' मदा इति छेदं विना श्रुतमात्रतोऽर्थबोधो न भवति। प्रत्युत शिक्षाया मदा —शिक्षामदा इत्यर्थो झटिति प्रतीतो भवतीति सूक्ष्मदृशावसातव्य प्रसादगुणगुम्फनचातुरीधुरीणैः। अयन्तु मदीय. श्लोकस्तत्प्रशसात्मक उदाहरणमर्हति भवितुम्।

पण्डितेन्द्रो जगन्नाथशर्मा निर्माणकौशलात्।
रसगङ्गाधर कृत्वा रसगङ्गामवाहयत् ॥

अवाहयदिति = देशादेशान्तरस्यविद्वत्सु प्रापयत्' देशान्तरप्रापण वहेरर्थं इतिभाष्योक्तेः। अकर्मका अपि यं सोपसर्गा व्यत्यास सकर्मका भवन्तीति भाष्यकैयटयो।

वक्त्राद्यौचित्यतः क्वापि भिन्ना हि रचनादयः ॥१०॥

रचनादीनां गुणव्यञ्जकत्वनियम औत्सर्गिकः वक्तृवाच्याद्यौचित्येन क्वचिदन्यथाभवनस्यापीष्टत्वात् । तथाहि कथायां रौद्ररसेऽपि नात्यन्त-मुद्धता रचना कर्तव्या वर्णनीयस्य सुखप्रतिपत्त्युद्देश्यत्वात् । नाटकादौ रौद्रादिरसेऽपि न दीर्घसमासो विधेयो नाटकादेः सर्वसाधारणार्थं क्रियमा-णत्वात्। उत्तररामचरित, अनर्घराघवादिषु स्वेष दोषः प्रचुरो वरिवर्ति। आख्यायिकायां शृङ्गाररसेऽपि न कोमलवर्णाः प्रयोक्तव्याः तस्या हि गद्यस्य प्राधान्याद् गद्ये च विकटवर्णत्वस्यैवाभ्यर्हितत्वात् ।

सर्वमेतदनुसन्धायैव निबद्धव्यमिति तात्पर्यम्। 'अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते' इति काव्यमीमांसायां राजशेखरोक्तेः। 'स्थाने निवेशितं सर्वं तनुते रमणीयताम्। अस्थाने तु न तद्भाति मेखलेव गले कृता॥' इति कविकण्ठाभरणे क्षेमेन्द्रोक्तेश्च। यत्त्वत्र रसगङ्गाधरकारेण—'रचनादीनां गुणाभिव्यञ्जकत्वमेव न रसाभिव्यञ्जकत्वमित्युक्तं तदयुक्तम्। 'गुणाना-श्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृ-वाच्ययोः॥ इतिध्वनिकारोक्ति विरोधात्। नह्यत्र ध्वनिकारविरुद्धा वाच माद्रियन्ते वाचस्पतेरपि। यदपि च तेन वर्णानां—पदवाक्यान्तर्गतत्वेन व्यञ्जकतावच्छेदक-कोटिप्रविष्टत्वमेव नतु स्वातन्त्र्येणेत्युक्तं तन्न। हर्षादि-भिर्वर्णानां स्वातन्त्र्येण व्यञ्जकताया अङ्गीकारात् ॥१०॥

प्रसाद-गुण की रचना ऐसी होनी चाहिये, जिसमें शब्द-श्रवण-मात्र से ही अर्थ का ज्ञान हो जाय बिना क्लेश के अभिप्राय जाना जाय, एकदम अर्थ का ज्ञान हो जाय, यह वक्रोक्तिकार का कहना है। दण्डी के मत में तो प्रसाद ही काव्य का जीवन है। रसगङ्गाधरकारने—इसके उदाहरण में 'मुग्धे' पद लिखा है वह सन्दिग्ध होने से ठीक नहीं है। दूसरे उदाहरण में 'निशामदाः' लिखा है वह भी ठीक नहीं क्योंकि यहाँ भी भ्रम होने की पूर्ण सम्भावना है। अतः प्रसादक उदाहरण नहीं। पहले में मुग्धा पद और दूसरे में 'निशामदा' सन्देहजनक हैं। निशामदा—

यहाँ पर 'त्व शिक्षाम्-प्रदा' इस छेद के बिना श्रवणमात्र से अर्थबोध नही होता। प्रत्युत शिक्षायामदा शिक्षामदाः, यह षष्ठी समासार्थ का भान एकदम हो जाता है जिससे दिन को रात हो जाती है। यह हमारा श्लोक जिसमे पण्डित-राज की ही प्रशसा है—प्रसाद का उदाहरण हो सकता है। पण्डितेन्द्र इति—पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने निर्माण-चातुर्य से रसगङ्गाधर को बनाकर सस्कृत-ससार मे रसगङ्गा बहा दी। इस पद्य मे प्रसाद-गुण का चमत्कार साक्षात् दृष्टिगत हो रहा है॥

वक्त्रादीति—कही-कही वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध के औचित्य से रचना आदि का परिवर्तन हो जाता है अतएव रचनादि का गुण-व्यञ्जकत्व नियम गौण है क्योकि कही पर उसका अन्यथा होना भी दृष्टिगत होता है। जैसेकि कथा मे रौद्र रस मे भी रचना उद्धत नही होती क्योकि वर्णनीय वस्तु का सुखपूर्वक ज्ञान होना आवश्यक है। नाटकादि मे वीरादि रस मे भी लम्बे समास नही किये जाते क्योकि नाटक सर्वसाधारण के लिये बनाये जाते हैं। लम्बे समासो का अर्थ समझने मे विलम्ब होता है। उत्तररामचरितादिको मे यह महान् दोष है। आख्यायिका मे शृङ्गार रस मे भी कोमल रचना नही होती क्योकि उसमे गद्य होता है। गद्य मे विकट वर्ण होने चाहिएँ।

काव्यमीमासा मे राजशेखर ने कहा है—सब-कुछ अनुसन्धानपूर्वक ही निबद्ध करना चाहिय। जैसाकि अनुसन्धान से रहित वस्तु भूषण भी दूषण हो जाती है। यही बात कवि-कण्ठाभरण मे क्षेमेन्द्र ने कही है—सब वस्तुएँ अपने अपने स्थान म ही रक्खी हुई शोभित होती हैं अस्थान मे नही, जैसे गले मे पहनी हुई मेखला शोभा नही देती। रसगङ्गाधरकार ने—रचनादि का गुणाभिव्यञ्जन करना ही स्वीकार किया है रसो का नही पर ध्वनिकार की उक्ति से विरुद्ध यह अयुक्त है। ध्वनिकार से विरुद्ध बात साहित्यशास्त्र म नही मानी जाती ॥१०॥

इति साहित्यबिन्दु मे चतुर्थ बिन्दु की टीका।

अथ पञ्चमो बिन्दुः

(अलङ्कार-सामान्य-लक्षणम्)

काव्यशोभाकराः प्रोक्ता अलङ्कारा मनीषिभिः ।
ते मयाद्य प्रदर्श्यन्ते शब्दस्यार्थस्य भेदतः ॥१॥

काव्यशोभा=काव्योत्कर्षः, काव्यशब्देन काव्यशरीरभूतौ शब्दार्थौ काव्यात्मभूतो रसश्च बोध्यः । तेन विना काव्यत्वानङ्गीकारात् । यदुक्तं श्रीकण्ठचरिते मङ्खेन—'तैस्तैरलंकृतिशतैरवतंसितोऽपि रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि । नूनं विना घनरसप्रसराभिषेकं काव्याधिराजपदमर्हति नो प्रबन्धः ॥

तत्र गुणाः साक्षात्सम्बन्धेन रसमुत्कर्षयन्ति । अलंकारास्तु—परम्परासम्बन्धेनेति भेदः । गुणापेक्षयाऽलंकारा बहूत्कर्षयन्ति काव्यमिति चन्द्रालोककारोक्तिस्तु सर्वानुभवविरुद्धत्वाद्दुराग्रहग्रस्तैवेति बोध्यम् । अस्मिन्मतेऽनेनैव परम्परासम्बन्धाऽलंकारवादः शब्दार्थोभयालंकारबोधकः । शब्दार्थगतत्वनिर्णयस्त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव । रसगङ्गाधरे—'हृदये सत्युपकारकत्वमलंकारसामान्यलक्षणमुक्तम् । तत्रोपकारकत्वोक्तिर्व्यर्था चमत्कारमात्रस्यैवालंकारलक्षणत्वेनोपपत्तेः शब्दादिविषयस्य लक्षणकारैरदृष्टिगतत्वाच्च ।

चमत्वं च—चमत्कारजनकत्वम्, चमत्कारः आनन्दविशेषः सहृदयहृदयप्रमाणकः । अतएव साहित्यसारे—अलंकारसामान्यलक्षणमिदमुक्तम्—

'रसादिभिन्नत्वे शब्दविशेषवत्तोत्तरम् ।
चमत्कारकत्वं यदलंकारत्वमत्र तत् ॥

तार्किका इत्थमेव लक्षणमाचक्षते—
सति शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या विषयितासम्बन्धावच्छिन्ना चमत्कृति ।

वच्छेदकता तदवच्छेदकत्वमलंकारत्वमिति। लक्षणमिदं कण्ठस्थकरणाय परिष्कृत-लक्षण-समन्वयो विस्तरभिया न कृतः। कुवलयानन्दचन्द्रिकाया द्रष्टव्यः।

अब अलकारो का निरूपण करते हैं—काव्यशोभाकरा इति—काव्य की शोभा को बढाने वाले अलंकार कहे जाते हैं। वे तीन प्रकार के होते हैं—शब्दालकार, अर्थालकार और उभयालकार। अलंकार-काव्य की आत्मा 'रस' का उत्कर्ष करते हैं। काव्य शब्द से काव्य की आत्मा रस लेना चाहिये, क्योंकि उसके बिना काव्यता नहीं होती। जैसेकि श्रीकण्ठचरित मे मङ्ख ने लिखा है—अलकारो से अलकृत होने पर और पूर्ण सौष्ठव रखने पर भी रस के अभाव मे महाकाव्यता नहीं आती। काव्य मे शब्द और अर्थ दोनो ही समकक्ष होते हैं।

गुण साक्षात्सबन्ध से और अलकार परम्परासबन्ध से रस का उत्कर्ष करते हैं। 'गुणो की अपेक्षा अलकार अधिक उत्कर्ष-जनक है' यह चन्द्रालोककार की उक्ति दुराग्रहयुक्त होने से उपहसनीय है। यहाँ अलकार शब्द करण व्युत्पत्ति से शब्द, अर्थ और उभयालकार-बोधक है। अलकारो का शब्द और अर्थ मे रहने का निर्णय, अन्वय और व्यतिरेक करता है। तत्सत्व मे तत्सत्व अन्वय तदभाव में तदभाव व्यतिरेक होता है। रसगङ्गाधरकार ने—हृद्य होने पर जो उपस्कारक हो वह अलकार सामान्य का लक्षण लिखा है वह ठीक नही क्योंकि हृद्यत्वमात्र ही अलकार-लक्षण पर्याप्त है।

हृद्यता चमत्कारजनकता मानी गई है। चमत्कार यहाँ आनन्द-विशेष माना जाता है, वह सहृदयो के हृदय से प्रमाणित होना चाहिये। इसीलिये 'साहित्यसार' नामक ग्रन्थ मे अलकार का सामान्य लक्षण निम्नलिखित माना गया है—रसादिको के भिन्न होने पर शब्द-विशेष सुनने के बाद जो चमत्कार जनन करे वही अलकार है। तार्किक लोग इसी लक्षण को इस तरह परिष्कृत कर देते हैं—रसादि से और व्यङ्ग्य

से भिन्न होने पर शब्द और अर्थ में होने वाला जो विषयिता सबन्ध से चमत्कारजनकतावच्छेदकत्व उसका धर्म अवच्छेदक अलंकारत्व है।

(शब्दालंकाराः)

चित्र-वक्रोक्त्यनुप्रास-गूढ-श्लेष-प्रहेलिकाः।
प्रश्नोत्तरं च यमकमष्ट शब्दगताश्च ते ॥२॥

शब्दगताः=शब्दमात्रनिष्ठाः। चेन दर्पणोक्तभाषासमस्य संग्रहः। तेऽलंकाराणां परामर्शः। बुद्धिस्थविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्ने तदादीनां शक्तेः। सर्वनाम्नामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वाच्च प्राधान्यं चामालंकाराणाम्।

अब सब से पहले शब्दालंकारों का विभाग करते हैं—चित्रेति—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर और यमक; ये आठ अलंकार केवल शब्दनिष्ठ हैं। यहाँ चकार अनुक्त समुच्चायक है इससे साहित्यदर्पण में प्रोक्त 'भाषासम' अलंकार का ग्रहण करना चाहिये। यहाँ तद् शब्द से अलंकार लिये जाते हैं क्योंकि तदादि शब्दों की बुद्धिस्थ में शक्ति रहती है। सभी सर्वनाम स्वभावतः प्रधान के ही परामर्श करने वाले होते हैं यह भी बात है, प्रधान यहाँ अलंकार हैं।

(चित्रकाव्यलक्षणम्)

तच्चित्रं यत्र वर्णा हि खड्गाद्याकारकारणम्।

यत्र रचनाविशेषेण वर्णाः खड्गाद्याकारं प्रकाशयन्ति तच्चित्रमलंकारः। नव शृङ्गाराद्यनुपकारकत्वादस्य काव्यस्य कथमलङ्कारत्वमिति शङ्कनीयम्। चित्रनिर्माणकौशलेन चमत्काराधायकत्वात्। अद्भुतरसोपकारकत्वादलंकारत्वोपपत्तेरिति सकलमनवद्यम्। अस्य बहुभेदा रुद्रटालंकारे द्रष्टव्याः खड्गबन्धस्तत एवोदाह्रियते—

'मारारि शक्र-रामेभमुखैरासाररंहसा।
सारारब्धस्तवा नित्य तदार्तिहरणक्षमा॥

माता नतानां सघट्ट श्रिया बाधितसंभ्रमा ।
मान्याथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिमा ॥

आदिमा आद्यशक्तिरुमा मे मह्यं शं सुखं दिश्यात् दद्यात् । आसाररंहसा वृष्टिवेगवन्नित्यमारब्धस्तवा, सारा श्रेष्ठा, नतानां प्रणतानां माता रक्षिका, श्रिया सघट्ट सर्वश्रीः । स्पष्टमन्यत् । कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रमेवोदाहृतम् ।

तच्चित्रमिति—जिसमे वर्ण—खड्ग, मुरज, चक्र, गोमूत्रिका आदि के आकार का प्रकाशन करें वह चित्र अलकार होता है । यद्यपि चित्र के वर्ण वास्तविक चित्र नहीं है तथापि लक्षणा द्वारा उनमें गौण रीति से शब्दालकारत्व माना जाता है । शंका—यह चित्र शृङ्गारादि रस का उपकारक तो नहीं है फिर इसमें अलकारता कैसे ? उत्तर—कवि प्रतिभा का प्रकाशन करना ही इसमें चमत्काराभास रहता है । इसके अनेक भेद रुद्रटालकार में देखें, खड्गबन्ध का उदाहरण वहीं से मारारीति—शिवादि से नित्यस्तुत भक्तरक्षिका सर्वोपरि आद्यशक्ति उमा हमारा कल्याण करें । यह काव्य अति कठिन होता है अतः इसको स्वल्प ही उदाहृत किया है ।

(वक्रोक्तिलक्षणम्)

वक्रोक्तिः श्लेषतः काक्वा परस्यार्थस्य कल्पना ॥३॥

श्लेषेण काक्वा वाऽन्यार्थप्रकल्पनं वक्रोक्तिरलकारः । वक्रा=वैदग्ध्यभङ्गिपूर्णा उक्तिर्भणितिर्यत्र सेति यावत् । एवमेव महिमाऽह—प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये । अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥ भामहेनेयं सर्वालकारबीजत्वेन भणिता । वक्रोक्तिजीवितकारस्त्वेनां काव्यजीवितमेव मेने । रसोक्त्या सह वक्रोक्तियोगस्त्वतितरां श्लाघनीयो भवति । तत्र श्लेषवक्रोक्तिर्यथा—

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥

'लोहितशुक्लकृष्णामिति श्रुतेः प्रकृतिजन्यबुद्धेरपि त्रिगुणत्वात्त्रिगुणेति । सत्वरजस्तमोगुणयुक्तेत्यर्थः । अत्र दारुणेति क्रूरार्थकत्वेन वक्त्रु-

रभिप्रेतं काष्ठेनेत्यन्यथाऽन्यो योजितवान्। अन्यथायोजनं चात्र व्यञ्जनयेति श्लेषप्रकारः। काकुवक्रोक्तिर्यथा—

'गुरुणा पारतन्त्र्येण दूरं गन्तुं समुद्यतः।
काले कोकिलवाचाले सखि नैष्यति किं प्रियः॥'

अत्र कोकिलवाचाले काले=वसन्ते, किं मम प्रियो नैष्यतीति निषेधाभिप्रायेण कयाचिदुक्तं सख्या तु तदुत्तरयन्त्या एष्यत्येवेति काक्वा योजितम्। पारतन्त्र्यं न सार्वदिकमिति भावः।

वक्रोक्तिरिति—जहाँ अन्यार्थक वाक्य को व्यञ्जना से दूसरा पुरुष श्लेष द्वारा वा काकु द्वारा अन्य अर्थ में लगा दे वहाँ दो प्रकार की वक्रोक्ति होती है। एक श्लेषवक्रोक्ति और दूसरी काकुवक्रोक्ति। श्लेष वक्रोक्ति का उदाहरण—

अहो इति—आश्चर्य है तुम्हारी ऐसी दारुण बुद्धि किसने बना दी शास्त्रों में तीन प्रकार की सत्त्वमयी, रजोमयी, तमोमयी बुद्धि तो मानी गई है परन्तु दारुमयी कहीं भी नहीं मानी। यहाँ क्रूरार्थक अभिप्रेत है परन्तु अन्य ने व्यञ्जना से काष्ठपरक लगा ली।

काकुवक्रोक्ति का उदाहरण—गुरुणामिति—हे सखि, मेरा प्रिय, गुरु (माता पिता) की परतन्त्रतावश, कहीं दूर देश में जाने के लिये तैयार हो रहा है, क्या वह वसन्त में भी नहीं आवेगा। इस प्रकार किसी ने निषेधाभिप्राय से पूछा, उसका उत्तर देती हुई सखी ने कहा—अवश्य-मेव आवेगा, क्योंकि परतन्त्रता सदा नहीं रहती यह काकु वक्रोक्ति है।

(अनुप्रासलक्षणं तद्भेदाश्च)

शब्दसाम्यमनुप्रासो लाटस्तात्पर्यभेदतः।
व्यञ्जनानां सकृत्साम्यं छेकानुप्रास ईरितः॥४॥

शब्दसाम्यमनुप्रासालङ्कारः। स्वरसादृश्यं तु नात्र प्रयोजकम्। कुम-कनवर्मिमयाराविमनुप्रासाङ्गीकारात्।

न च शब्दसाम्य यमकेऽप्यस्तीति वाच्यम्। यमके .

नियमात्। अनुप्रासश्च त्रिविधः। लाटानुप्रासः छेकानुप्रासः व

शब्दार्थयो तात्पर्यमात्रतो भेदे लाटानुप्रासो भवति। स्वरव्यञ्जनानां सकृदावृत्तौ वृत्त्यनुप्रासः। व्यञ्जनसंघस्य सकृत्सादृश्ये छेकानुप्रासः व्यञ्जनमत्र हल्वर्णः। व्यञ्जनं चार्थमात्रकमिति भाष्योक्तेः। त्रिविधोऽप्ययमलंकारः काव्यस्य परमरमणीयतामावहति। यथाहुः—'यथा ज्योत्स्ना शरच्चन्द्रं यथा लावण्यमङ्गनाम्। अनुप्रासः तथा काव्यमलङ्कर्तुमिह क्षमः॥' लाटानुप्रासो यथा मम छायायाम्—

यदत्र सौष्ठवं बिन्दौ पूर्वेषामेव मे नहि।
यदत्र सौष्ठवं नैव न तेषां तन्ममैव हि॥

बिन्दौ साहित्यबिन्दौ, यत्सौष्ठवं तत् पूर्वेषां साहित्यधुरन्धराणामेव। असौष्ठवं ममैव हि बिन्दुकारस्य न तेषां पूर्वेषामित्यर्थः। अत्रानेकेषां शब्दानामावृत्तिः। एषां केवलं तात्पर्यं भिद्यते न शब्दार्थौ वृत्त्यनुप्रासः छेकानुप्रासोदाहरणे मम स्वर्णजयन्त्यवसरेऽस्मिन्नित्र महाकाव्यखिलानन्दे पठितं पद्ययुगलम्—

वार्तानिकी यत्प्रतिमा प्रतिभासपरप्रचेतसां पुसाम्।
रमयति मानसमाराच्छुञ्जुराम स विश्रुत शास्त्री॥
यन्मुखपद्मविनिःसृतकाव्यकलापः प्रतिक्षणं लोके।
काव्यकलारसिकानां मनांसि सद्यः प्रमोदयति॥

अत्र प्रतिभाप्रतिभेतिस्वरव्यञ्जनानामावृत्तौ वृत्त्यनुप्रासः। तसांपुसामिति छेकानुप्रासः। एवं द्वितीयपद्येऽपि, अन्त्यानुप्रासोऽपि भवति यथा—

श्यामतामरसदामसुन्दरः पादपङ्कजनतपुरन्दरः।
बधमानभवदावपावकः पातु कोऽपि वसुदेवशावकः॥

शब्दसाम्यमिति—शब्द के साम्य (सादृश्य) को अनुप्रास कहते हैं। अर्थात्—अनेक व्यञ्जन जहाँ एक से मिल जायँ वहाँ अनुप्रासालंकार होता है। यहाँ अनु का अर्थ अनुगत प्र का प्रकृष्ट और आस का न्यास है। इसकी अनुगत प्रकृष्ट रचना का नाम अनुप्रास है। स्वरों की समानता में अनुप्रासालंकार नहीं होता, क्योंकि उसमें कोई विचित्रता नहीं जैसे—कुलकलभ आदि शब्दों में स्वरसादृश्य न होते हुए भी अनुप्रास माना गया है।

शंका—शब्द का सादृश्य तो यमक में भी रहता है। उत्तर—यमक में समान आनुपूर्वी होती है परन्तु अनुप्रास में नहीं। अनुप्रास तीन प्रकार का होता है—लाटानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास और छेकानुप्रास। शब्द और अर्थ का तात्पर्य भिन्न होने पर भी जहाँ पुनरावृत्ति हो वह लाटानुप्रास अलंकार होता है। व्यञ्जन-समुदाय की एक बार समानता छेकानुप्रास अलंकार होता है। व्यञ्जन यहाँ हल्वर्ण विवक्षित हैं। यह तीनों प्रकार का अलंकार ध्वनि की परम शोभा का करने वाला होता है। जैसे ज्योत्स्ना शरच्चन्द्र की, और सौन्दर्य स्त्री की शोभा करने वाला होता है। उदाहरण—

अत्रैव—साहित्य-बिन्दु में जो सौष्ठव कुछ चमत्कार है, वह सब पूर्वाचार्यों का ही है और जो असौष्ठव अवगुण है वह सब मेरा है।

अथवा जैसे पूज्य पिता जी की 'स्वर्णजयन्ती' के अवसर पर महाकवि सच्चिदानन्दजी ने पढ़े हुए निम्न पद्य भी छेकानुप्रास के उदाहरण हो सकते हैं—

'ब्राह्मणस्य, महत्पाप सन्ध्यावन्दनकर्मभिरित्यादौ । अत्र ब्राह्मणेति सबोधनम् । जातित्वादेकवचनम् । ब्राह्मण्य निर्वुवाणो भाष्यकृदाह—

तप श्रुत च योनिश्च एतद् ब्राह्मणकारणम् ।
तप श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव स ॥

तत्र तप पूर्णिमैकादश्याद्युपवास । 'तपो नामशनात्परमितिश्रुते । ब्रह्मज्ञान वा तप । 'यस्य ज्ञानमय तप इति श्रुते । श्रुत=साङ्गवेदा ध्ययनम् । शास्त्रश्रवण वा । योनिर्ब्राह्मणाद्ब्राह्मण्याजन्म, यद्यप्येतत्त्रय मिलितमेव ब्राह्मण्यकारण तथापि त्रिषु योनि प्रधान तप श्रुताभ्या हीने जातिलक्षणैकदेशाश्रयो ब्राह्मणशब्दप्रयोग इतिकैयटोक्ते । विश्वामित्रादिषु तप श्रुतसत्त्वेऽपि गौणब्राह्मणत्वमेव, 'ब्राह्मणो ब्रह्मयोनिज इति सामश्रुते ब्राह्मणाद्ब्राह्मण्या जन्मलक्षणाया योनेस्तत्राभावात् । ब्राह्मो जाताविति पाणिनिसूत्रादजातौ ब्राह्मणशब्दस्यैवासिद्धेश्च। अत्र स्येतिक्रियापद गुप्तम् । कर्तृकर्मादिगुप्तानि स्वय द्रष्टव्यानि ।

(श्लेषालकारलक्षणम्)

श्लेष श्लिष्टपदै पुन अर्थद्वयस्य कथन,

श्लिष्टपदैरर्थद्वयस्य कथन श्लेषालकार । शब्दभेदेन शब्दभेदे शब्दश्लेष । यत्रैकोऽर्थ शब्दोऽपरो निरूढलक्षणया प्रतिपाद्यस्तत्राथ श्लेष । निरूढलक्षणा चासति प्रयोजने शब्दसबन्ध । यथा 'त्वचा ज्ञात'-मि'त्यादौ त्वचस्स्पर्शेन्द्रिये । जतुकाष्ठन्यायेन शब्दयो श्लिष्टत्व शब्दश्लेष । शब्दाभावादेकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थश्लेष इति साहित्य विद्वदनुभव । तत्र पदभङ्गश्लेष शब्दालकार । अभङ्गश्लेषोऽर्थालकार इत्यलकारसर्वस्वकार । उभयमपि शब्दालकार इति काव्यप्रकाशकार । अयमेव नो मनोरथ । अय चाष्टविधोऽन्यत्र प्रदर्शित पिष्टपेषणभया नेह प्रतानित । श्लिष्टकाव्य क्लिष्टमिति दिङमात्रमुदाहरण ममैव—

'भ्रम्यते यत्र तत्रैव तावत्सहृदयालिभि ।
पद्मगुप्त परिमलो यावत्खलु न लभ्यते ॥

अत्र पद्मगुणपरिमलनामा कश्चिदेव पद्मो गुणः परिमलः सौरभमिति श्लेषः। सहृदया एवालयस्तः। स्पष्टमन्यत्। अस्मिन्नलंकारे द्वयोरर्थयोर-भेदाध्यवसाने एकपदोपात्तत्वं मूलम्।

(प्रहेलिकालक्षणम्)

सकृत्प्रश्नः प्रहेलिका ॥५॥

सकृत्प्रश्नः प्रहेलिकालंकारः। प्रश्नश्च प्रोप्सा। भावे नङो विधानात्। सा च च्युताक्षरा दत्ताक्षरा च। अस्यालंकारस्योपयोगं दण्डी प्राह—'क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे। परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः ॥ द्वयोरुदाहरणम्— .

'विदग्धः सरसो रागी नितम्बोपरिसंस्थितः।
तन्वङ्ग्यालिङ्गितः कण्ठे कलं कूजति को विटः ॥

विदग्धः चतुरः, पक्षे विशेषेण दग्धः, रागी=अनुरागी, पक्षे रक्तः। स्पष्टमन्यत्। अत्र विस्थाने घकारदानाद् द्वितीयोऽर्थो घटो भवति। एवमन्यदपि सदयाहलक्षणम्। यत्तत्र दर्पणकारः—'रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका। उक्तिवैचित्र्यमात्रं सेत्याह। तदसत्। वैचित्र्यनिबन्धनो ह्यलंकारस्तत्र उपमादीनाम्। वैचित्र्यमेवालंकार इति सकलालंकारिकसिद्धान्तात्। अतएवालंकारिकशिरोमणि महाकवि-दण्ड्यादिभिरस्या अलंकारत्वमुक्तमिति युक्तमुत्पश्यामः।

क्रियेति—क्रिया गुण आदि पद से मनुष्य कर्म गुण आदि गूढार्थ है। उदाहरण—

ब्राह्मणस्येति—हे ब्राह्मण, तू सन्ध्यावन्दनादि कर्मों से सब पापों का नाश किया कर।

ब्राह्मण का लक्षण यही है—पूर्णिमा एकादशी आदि का व्रत रखना। जैसा कि वेद में लिखा है—अमावस्या से बढ़कर कोई व्रत नहीं है। ईश्वर-चिन्तन ज्ञान भी व्रत है जैसा कि वेद में ही माना

है—जिसका ज्ञानमय तप है। श्रुतपद से साङ्ग वेदो का पढना, अथवा सच्छास्त्रो का श्रवण माना है। योनि=ब्राह्मण से ब्राह्मणी मे जन्म, इन तीनो मे योनि ही ब्राह्मण होने मे प्रधान कारण है। अतएव विश्वामित्र प्रभृतियो मे तप और श्रुत के रहने पर भी गौण ब्राह्मणत्व है मुख्य नहीं सामवेदादि के प्रमाण से। योनि से जाति मानने पर ही ब्राह्मण शब्द सिद्ध होता है। क्योकि ब्राह्मण शब्द की सिद्धि कर्म से जाति मानने पर नही होती है। उपर्युक्त उदाहरण मे 'स्य' क्रिया है। कर्तृ-कर्मादि गुप्त स्वय ही ग्रन्थान्तरों से जानने चाहिये।

श्लेष इति—श्लिष्टपदो से अर्थद्वय अर्थात् अनेक अर्थों का अभिधान होने पर श्लेषालकार होता है। शब्द के भेद से शब्द का भेद होने पर शब्दश्लेष, और जहाँ एक अर्थ शक्य है दूसरा निरूढ लक्षणा से प्रतिपाद्य है वहाँ अर्थश्लेष होता है जैसे त्वचा ज्ञातम्—यहाँ त्वक् शब्द की त्वगिन्द्रिय मे निरूढलक्षणा है, वह बिना किसी प्रयोजन के शक्य सबन्ध रूपा होती है। जतुकाष्ठन्याय से शब्द श्लेष और एक वृन्तगत फलद्वयन्याय स अर्थश्लेष, यह भी दोनो का भेद प्रकार है। पदभङ्गश्लेष शब्दालकार, अभङ्गश्लेष अर्थालकार यह अलकारसर्वस्वकार रुय्यक का मत है। दोनो ही प्रकार से शब्दालकार है यह काव्य-प्रकाशकार मानता है, प्रकृत ग्रन्थकार को भी यही अभिमत है। उदाहरण—भ्रम्यते इति—सहृदयरूपी भ्रमरगण तब तक इधर उधर घूमते रहते है, जब तक पद्मगुप्त परिमल कवि रूप पद्म का पराग उनको नही मिलता। यहा दोनो अर्थों का अध्यवसान होता है।

सकृदिति—एक बार प्रश्न करना प्रहेलिकालकार होता है। वह दो प्रकार की है च्युताक्षरा और दत्ताक्षरा। क्रीडा मित्रगोष्ठी परस्पर विनोद आदि मे इसका उपयोग होता है। दोनो का उदाहरण—विदग्ध इति। विदग्ध, चतुर पक्ष मे दग्ध हुआ, रागी कामी पक्ष मे रक्त वर्ण, स्त्री से कण्ठ गले मे आलिङ्गित वा गृहीत जार अथवा घट मधुर बोलता

है। इसी तरह अन्य लक्ष्य भी जानना। दर्पणकार विश्वनाथ ने—रस का बाधक होने के कारण प्रहेलिका (पहेली) को अलंकार नहीं माना, उक्ति की विचित्रता मात्र ही उसको माना है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि वैचित्र्य ही अलंकारत्व का प्रयोजक है, यह सब आलंकारिकों का एक मात्र सिद्धान्त है। इसलिये महाकवि महाऽलंकारिक दण्डि प्रभृति ने प्रहेलिका को अलंकार ही माना है।

(प्रश्नोत्तरलक्षणम्)

प्रश्नोत्तरं च द्विविधं बहिरन्तः प्रभेदतः।

यथा प्रश्नस्योत्तरदानमेवास्यालङ्कारस्वरूपम्। अयमलङ्कारो वेदेऽपि बहुधा दृश्यते। यथा—

'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः।
वेदीमाहुः परमन्तं पृथिव्याः॥'
'किंस्विदेकाकी चरति क उस्विज्जायते पुनः।
सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः॥'

बाह्यं बहिः प्रश्नोत्तरं यथा—

'प्राय भार्यां निपुणयन्ते नराः सर्वत्र कीदृशाः॥

नायकाः इति।

अन्तः प्रश्नोत्तरं यथा—

का काशी का मधुरा का शीतलवाहिनी गङ्गा।
कं संजघान कृष्णः कं बलवन्तं न बाधते शीतम्॥

अत्र काशीति प्रश्ने काशामाशोरुत्तरम्। एवं मधुरा केति प्रश्ने कामधुरा कामधेनुः शीतलवाहिनी गङ्गेति प्रश्ने काशीतलवाहिनी गङ्गा। काशीविषयं तत्र पाठको यथ पुनरेकता निर्णीतम्—

'पदे पद मन्दिराणि पाठशाला पदे पदे।
पदे पदे च विद्वांसः काश्यामेषा विचित्रता॥

एवं कृष्णः कमवधीदिति प्रश्ने कंस इत्युत्तरम्। कमपि सा बला बलु

कंतेरिति भावम्। शीतः कंबलवन्तं न बाधते, कंबलश्च (शीते) कमनीयो भवतीति निरुक्तकारः। अत्र सर्वत्र अविकृतस्तयों यथा किराते—

'हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।'

अत्रय किन्तु वितर्के तच प्रयोक्तुः संभावनात्मकं श 'किमिन्नुः किंपचमित्यादी।

(यमकलक्षणम्)

यमकं चार्थभिन्नानामर्थे सति पुनः श्रुतिः

अर्थे सति, भिन्नार्थानां वर्णानामानुपूर्व्येणावृत्तिः अनुप्रासे स्वभावत एकार्थयोः शब्दयोरावृत्तिः यमके च कार्ययोः शब्दयोरावृत्तिरिति भेदः। अयं च पदपादार्धश्च बहुविधो दिङ्मात्रमुदाह्रियते पदावृत्तिर्यथा मम सुलतानच

'महिमा न हिमागमेऽम्बरस्तवर्णानां तरुणस्य कर कमलेः कमलेषु यत्र न सहसा स्वीय-वियोगनादि

यथा वा शिवराजविजये—

'घनपटली बहु वर्षति तोयम्।
घनपटलीनमुखः पथिकोऽयम्॥

पादावृत्तिर्यथा माघे—

'आपदि व्यापृतनया व्या युयुधिरे नृपाः।
आप दिव्या पृतनया विस्मयं जनता तथा॥

आपदि आपत्काले, व्यापृतनयाः स्वीकृतनीतयो नृपाः दिव्या जनता= देवसमूहः, ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् स्त्रीत्वं ले पृतनया सेनया, विस्मयमाप। अर्धावृत्तिर्यथा भट्टिकाव्ये—

'समिद्धशरणादीप्ता देहे लङ्कामतेश्वरा।
समिद्धशरणादीप्ता देहेऽलङ्कामतेश्वरा॥

श्लोकावृत्तिर्यथा काव्यादर्शे—

विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना ।
स्वमित्रोद्धारिणाऽभीता पृथ्वीयमतुलाश्रिता ॥
विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना ।
स्वमित्रोद्धारिणाऽभीता पृथ्वीयमनुनाश्रिता ॥

कस्यचिद्राज्ञः स्तुतिरियम् । हे राजन्, भवतेयं पृथ्वी, अभीता = भयरहिता जाता । कीदृशेन भवता विनायकेन = विरुद्धेभ्यो दण्डदात्रा, पुनः वृत्त-(वर्तुल)पीवरभुजेन, स्वमित्रोद्धारिणा, अनुनाथिना असुरभेदेनेति प्रथमश्लोकार्थः । विनायकेन = मृतस्वामिना, अभीता = युद्धाय तवाभिमुखमागता भवता सता विनायां ज्वलद्भुजेन, स्वमित्रोद्धा = परिहृतबन्धुवर्गेण, हेनाप्यरिणा, इयं पृथ्वी, यमस्य तुलामानयन्तं विना मृतमिति भाव॰ ।

यमकं चेति येन समानचतुष्पादस्य महायमकस्य ग्रहणं तदुदाहरणं च—

समानयाम मानया समानया समानया ।
समानयाममानया समानया समानया ॥

हे समानयाम, समानप्रयत्नकारिन्, तथा समान अभिप्राय, मामानया नायिकया समानय = सम्मेलय, कीदृश्या—अनमानया निरभिमया, समानया मानवत्या, तथा समानया मानार्हया, सा का या मामं रतिनैपुणैः सह रमते च ॥ भाषासमो महाकविकर्णपूरस्य—

'एह्येहि लाल, ललिताङ्गमरामरीयम् ।
तत्रैव केन, शिशुभिः विनयस्थितान ॥

हे लाल कृष्ण, मम ईष्यायां धनि साम्नीये नयः । एह्येहीति वीप्साया द्विरुक्तिः । तथा च शालोऽशब्दं प्रयुज्यते । शिशुभिरिति सहार्थे तृतीया । तेनेति प्रार्थनेऽनेति च प्रार्थनायां लोट् । अत्र भामकेनेति इत्योरपि संस्कृतप्राकृतयोः साम्यम् ।

प्रश्नोत्तरमिति—प्रश्नोत्तर दो प्रकार का होता है बाह्य और आभ्यन्तर । यह अलङ्कार वेद में भी बहुत देखा गया है । यथा भीतर से बाह्य प्रश्नोत्तर का उदाहरण—प्राय इति—प्राय बातों में कभी उत्तर बन कर नियुक्त किये जाते हैं और नाना शब्द लोगों ऐसे

इति—पृच्छामि इति पृथ्वी का अन्त क्या है ? वेदी। एकाकी कौन विचरता है ? सूर्य, सूर्य से कौन उत्पन्न होता है ? चन्द्रमा।

अन्त.प्रश्नोत्तर का उदाहरण—का कालीति। काले वर्ण वाली कौन है ? उत्तर—कौओं की पंक्ति मधुर-मीठी कौन है, कामधेनु, शीतलवाहिनी (ठण्डा जल बहाने वाली) कौन है, काशीनगरी के नीचे नीचे बहने वाली गङ्गा, काशी की प्रशसा के सबन्ध मे पूज्य पिताजी ने यहीं पर पढाते समय एक पद्य बनाया था जो उपरिलिखित है और स्पष्टार्थ भी है। कृष्ण ने किस को मारा, कस अपने मामा को, शीत=जाडा किसको बाधित नही करता, कबलवस्त्र धारण करने वाले पुरुष को इन सभी उपर्युक्त प्रश्नो मे किं शब्द जिज्ञासाबोधक है। कही पर कुत्सार्थक भी जैसे किरात मे। अव्यय किं शब्द वितर्क मे रहता है, जैसे–किमिन्दु।

यमक का लक्षण—यमकमिति—अर्थ रहने पर भिन्नार्थक वर्णों की आनुपूर्व्य आवृत्ति, यमक अलकार होता है। अनुप्रास मे स्वभावत एकार्थक शब्दो की आवृत्ति होती है और यमक मे स्वभावत भिन्नार्थक एकाकार शब्दो की आवृत्ति होती है। यमक पद पाद अर्धावृत्ति भेद से अनेक प्रकार का है। पदावृत्ति का उदाहरण—महिमानेति—हेमन्त ऋतु मे किस तरुण और तरुणी की महिमा नही बढी और हेमन्त मे भ्रमर को कमल मे शीघ्र वियोग शका से तृणमात्र सुख नही हुआ।

दूसरा उदाहरण—घनपटलीति—बादलो की पंक्ति बहुत बर्ष रही है, और यह पथिक (माग मे चलने वाला) घन (गाढ) वस्त्र मे मुख को ढके बैठा है। पादावृत्ति का उदाहरण—आपदीति—आपत्काल मे स्वीकृत की है नीति जिन्होने ऐसे राजा लोग कुछ क्रुद्ध होकर परस्पर मे घोर युद्ध करने लगे जिसको देखकर देवसमूह भी विस्मित हो गया। अर्धावृत्ति का उदाहरण—समिद्धशरणेति—जिसके देह (मध्यभाग) मे घर जल रहे हैं, और स्वय दीप्त=प्रकाशयुक्त है, जिसमे शिव की मान्यता है, ऐसी लङ्का नगरी देहे=दग्ध हो गई। जो समिद्धशरण=ज्वलद्गृह

भवनों से दीप्त (प्रकाशित) है और अलकामतेश्वरा=सर्वेच्छा सम्पादन में समर्थ है ॥

श्लोकावृत्ति का उदाहरण—विनायकेनेति—यह किसी राजा की स्तुति है। हे राजन् ! आप से यह सारी पृथ्वी शत्रुओं के भय से रहित हो गई। आप कैसे हैं, वि=विरुद्धों को दण्ड देने वाले, गोल और विस्तृत भुजा वाले, अपने मित्रों के उद्धारकर्ता, अथवा सुष्ठु प्रकार से अमित्रों के हन्ता, और अतुलकीर्ति।

दूसरे श्लोक का अर्थ—तुम्हारे से जिसका स्वामी मारा गया है इसीलिये वह युद्ध करने के लिये तुम्हारे सम्मुख आता हुआ कोई शत्रु भी तुम्हारे किसी भृत्य द्वारा मारा हुआ और पृथ्वी पर पड़ा हुआ जला दिया गया है, उसके साथ और कोई नहीं था।

यमकं च—के चकार से तुल्य हैं चारों पाद जिसके ऐसा महायमक लेना चाहिए। उसका उदाहरण—समानयेति—हे तुल्य प्रयत्न करने वाले, अभिन्नहृदय मित्र, मुझको इस नायिका (सुन्दरी) से मिला दे। यह निरुपम, मानशालिनी, सम्मानार्ह तथा सम्पत्ति और नीतियुक्त है। भाषासम का उदाहरण—

एह्येहीति—हे लालनीय कृष्ण ! तुम हमारे सुन्दर आंगन में आओ, वहीं पर बच्चों के साथ खेलो और कुछ मिष्ट खाओ। यहाँ लाल और खेल दोनों पद संस्कृत और हिन्दी में समानता रखते हैं।

(उपमालंकारलक्षणम्)

उपमा चारुसादृश्यमुपमानोपमेययोः ।

उपमीयतेऽनयेत्युपमा। उपपूर्वान्माङ 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्। चमत्कार-प्रयोजकं सादृश्यमुपमालंकारः। सादृश्यन्तु साधारणधर्मसम्बन्धप्रयोज्यं तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वम्। अनया विद्यमानोपमेयादिकं ... व्यतिरेक-सार्थाये ... इति वाच्यम्। प्रमेयपदार्थे गोतमोक्तं ... उपमानोपमेययोरिति ... आदि

तत्साहृश्यस्य कविप्रतिभाकल्पितत्वाभावेनाऽनलंकारत्वात् ।

पितेव पुत्र सगुण स आसीत् इत्यादौ तु कार्यकारणयोर्द्वयोरप्युपमानोपमेयत्वकल्पनायामतिप्रसङ्ग । न च कल्पित साहृश्य कथकार चमत्कार जनयेदिति वाच्यम् । उपमानोपमेययोः सत्यत्वस्य लक्षणेऽविवक्षणात्। गोसदृशो गवय इत्यत्र साहृश्यचमत्कारिताविरहान्नोपमालंकार । एवमेव सर्वेऽप्यलकारा कविसमयप्रसिद्धयनुरोधेन चमत्कारित्व एवालकारता भजन्ते नान्यथा। अत 'गौर्वाहीक' इति न रूपकम्। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वेति' न सन्देह । 'इद रजतमिति' न भ्रान्तिमान् । 'नाय सर्प' इति नापह्नुतिः । 'स देवदत्त' इति न स्मरणम् । तस्यस्थनिपातास्तन्ताम इति न यथासख्यम् । 'पुत्रेण सहागत पिता' इति न सहोक्ति । 'तेन विनागत' इति न विनोक्तिरित्यादिक स्वयमूहनीयम् ।

यत्तत्र रसगङ्गाधरकृता बहून्युपमालक्षणानि खण्डयित्वा 'साहृश्य सुन्दर वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालकृतिरित्युपमालक्षण कृतम् । तदसत् । तत्र वाक्यार्थोपस्कारकत्वविशेषणस्य व्यर्थत्वात् । तद्विनैव सकलेष्टसिद्धे । स्वय तेन प्राचा लक्षणे हृद्यत्वमात्रेण निर्वाहे विशेषणान्तरस्य व्यर्थत्वाभियुक्तम् । उपमा तावद् द्विविधा पूर्णा लुप्ता च । तत्र 'उपमानमुपमेय धर्मो वाचकमित्यद । चतुष्टयमुपात्त चेत्साहि पूर्णोपमा मता । वर्ण्यो-

अलीव मलिने नेत्रे मुख सौरभमञ्जवत् ।
पुष्पतुल्यौ मृदू पाणी सुधावन्मधुरा गिर ॥

अत्र पूर्वार्धे श्मात्समासतद्धितगता द्विविधा श्रौती । उत्तरार्धे तु स्मात्तद्धित समासगता चार्थी । यथा वा मम दुर्गाभ्युदये—

शुभमुक्तानि शस्त्राणि देवी नयति रिक्तताम् ।
पौरुष पुरुषस्येव नियति॰ प्रतिपक्षिणी ॥

रिक्तता=व्यर्थतत्र नयति प्रापयति । यथा पुरुषस्य पौरुष प्रतिपक्षिणी=प्रतिकूला, नियति, तथा देवी शुभमुक्तानि शस्त्राणि स्पष्टमन्यत् । अथ लुप्तोपमा ममैव—

॰ विक्रमादित्य-भूपालो रणे सुरपतीयति ।
शशीव वदनेनासौ शोभते मृगलोचन ॥

सुरपतीयतीत्यत्रोपमेयस्यात्मनो लोप । उपमानस्य सुरपतेरात्मन उपमेयत्वात् । मृगलोचन इत्यत्र लोचनेत्युपमानस्यैवशब्दस्य विस्तृतत्वरूपसाधारणधर्मस्य च लोप । गम्यमानानामप्रयोग एव लोप इति भाष्यकैयटयो ।

'सुधारश्मिरम्भानिव मनुष्या नेनोयतेऽभीपुभिर्वाजिनइवे'त्यादौ वेदेऽप्युपमालङ्कार । वैयाकरणमते—उपमावाचकतामिवादीना द्योतकत्वमेव यथोक्त भूषणे—'प्रादयो द्योतका सर्वे निपाताश्चादयस्तथा । उपास्येते हरिहरौ लकारो दृश्यते यथा ॥ आलङ्कारिकमते—इवादीना वाचकत्वमेव न द्योतकत्वम्, युक्त चैतत् । अन्यथा सकलालङ्कारिकसम्मतस्यैव शब्दप्रयोगे श्रौतीत्यस्य दत्तजलाञ्जलित्वापत्ते । नागोजिभट्टेनापि मञ्जूषायामुक्त क्वचिन्निपातानां वाचकत्वमपि न केवल द्योतकत्वमेव ।

(मालोपमालङ्कारलक्षणम्)

मालोपमोपमानत्व एकस्य बहुधा मता ॥७॥

एकस्योपमेयस्य बहूपमानत्वे मालोपमालङ्कार । यथा जगद्धरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ—

निशान्तनिद्रेव दशेव शैशवी नवीनवध्वाः चकितेव दृक्छटा ।
सुरश्रवन्तीव कथेव शाम्भवी कवीन्द्रवाङ् निर्वृतिमातनोतु वः ॥

निशान्तनिद्रेव=रात्र्यन्तनिद्रेव, शैशवी दशेव=बाल्यावस्थेव, सुरश्रवन्तीगङ्गा शांभवीकथा तथेव कवीन्द्रवाक् कविभारती वः युष्माकं निर्वृतिमानन्द करोतु अत्र कवीन्द्रवाचो बहून्युपमानानीति मालोपमालकारः

सथेति—अब अर्थालकारो का निरूपण करेंगे क्योकि शब्दालकारो का निरूपण कर चुके। अर्थालकारो मे भी प्रधान होने के कारण या सब की जननी होने के कारण तथा सादृश्यमूलक अलकारो के उपजीव्य होने के कारण सर्वप्रथम उपमालकार का निरूपण करते हैं—

उपमेति—उपमान और उपमेय की चमत्कारजनक सदृशता को उपमा कहते हैं। सदृशता यहाँ साधारण धर्म सम्बन्ध से प्रयोज्य सदृश आदि पद की शक्ति से सिद्ध भिन्न ही पदार्थ है, और वह गौतम से कहे हुए प्रमेय पदार्थ मे अन्तर्भूत है। सादृश्य यहाँ उपमान और उपमेय का ही गृहीत है कार्यकारणादि का नहीं क्योकि उनका सादृश्य चमत्कारजनक न होने से अलकार नही होता।

शंका—वह रघु पिता के समान गुणवान् था इत्यादि कार्यकारण भाव मे उपमालकार कैसे ? उत्तर—यहाँ कार्य कारण मे उपमान और उपमेय की कल्पना कर ली है। शका—कल्पित सादृश्य चमत्कार को उत्पन्न कैसे कर सकता है। उत्तर—लक्षण मे उपमान और उपमेय की सत्यता विवक्षित नही है। गौ के समान गवय है यहाँ सादृश्य चमत्कार नही है अत. उपमालंकार नही। इसी प्रकार सभी अलकार कवि-समय-प्रसिद्धि के अनुसार चमत्कारजनक होने पर ही अलकार हो सकते हैं। इसीलिये 'गौर्वाहीक.' इत्यादिको मे रूपकादि अलकार नही हो सकते। अधिक स्वय समझना।

यत्वत्रेति—रसगङ्गाधरकार ने बहुत से उपमालक्षण खण्डित करके जो अपना उपमालक्षण किया है वह ठीक नही, क्योकि उसमे वाक्यार्थोपस्कारक' विशेषण व्यर्थ है 'सुन्दर सादृश्य ही' उपमा का लक्षण पर्याप्त

है। स्वयमेव उसने प्राचीनों के उपमा लक्षण को खण्डित करते हुए हृद्यतामात्र अलंकार लक्षण ठीक माना है। उपमा दो प्रकार की है— पूर्णा और लुप्ता। जहाँ—उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक हों वह पूर्णोपमा है। जहाँ उपमेय, उपमान, धर्म और उपमा वाचकों में से किसी एक दो तीन का लोप हो वहाँ लुप्तोपमा होती है। उपमानादि चार कहीं पर वाच्य (शब्दोपात्त) और कहीं पर प्रतीयमान होते हैं यह सब आलंकारिकों का मत है। फिर लक्षण में केवल वाच्यपद देना साहित्यदर्पणकार का प्रमाद है यदि, हम उन मान्यों के सम्बन्ध में क्या कहें।

पूर्णेति—पूर्णोपमा भी दो प्रकार की होती है। एक श्रौती, दूसरी आर्थी। लुप्तेति—लुप्तोपमा चार प्रकार की है—उपमानलुप्ता, उपमेयलुप्ता, धर्मलुप्ता और वाचकलुप्ता भेदों में मिलाने से यह छः प्रकार की हुई। तत्रेति—यथा इव, वा शब्दों के सद्भाव में तथा 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से जहाँ इवार्थ में सप्तम्यन्त या षष्ठ्यन्त से वति प्रत्यय किया गया हो वहाँ श्रौती उपमा जानना। तुल्य आदि शब्द की सत्ता में 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र से जहाँ वति प्रत्यय किया गया हो वहाँ आर्थी उपमा जानना। दोनों प्रकार की पूर्णोपमा का उदाहरण—अलीनि। नेत्र भ्रमर के समान मलिन=काले हैं। मुखपद्म कमल के समान है, हाथ पुष्प के समान कोमल हैं और वाणी अमृत के समान मधुर मीठी है।

अत्रेति—इस उदाहरण में पूर्वार्ध में भ्रम से समास और तद्धितगता श्रौती है। और उत्तरार्ध में तद्धित तथा समासगता आर्थी है। दूसरा उदाहरण केवल पूर्णोपमा का है—कुम्भेति—कुम्भ दैन्य में छोड़े हुए शत्रों को देवी इस तरह विफल कर रही है जैसे पुरुषकृत पुरुषार्थ को प्रतिकूल भाग्य विफल कर देता है। लुप्तोपमा का उदाहरण—विक्रमेति—विक्रमादित्य राजा, रणभूमि में इन्द्रवत् पराक्रम दिखा रहा है। वह चन्द्र के समान सुन्दर है और मृगवत् विशाललोचन है। यहाँ उपमेय भाग का लोचन उपमान का इव शब्द का और विस्तृतत्व रूप साधारण धर्म का लोप हुआ है॥

भाष्य और कैयट में गम्यमान (प्रतीयमान) का अप्रयोग ही लोप माना है। सुपारयिरश्वानिवेति—इस वेदमन्त्र में भी उपमालकार है। प्राचीन वैयाकरणो के मत मे उपमा के वाचक इवादि को द्योतक माना है, जैसा कि भूषण मे लिखा है—प्रादि उपसर्ग और चादि निपात सभी द्योतक हैं। जैसे 'हरिहरौ उपास्येते' मे लकार द्योतक है। आलकारिकों के मत मे इवादि वाचक ही हैं न कि द्योतक। यह ठीक भी है क्योंकि इव शब्द के प्रयोग मे सबने श्रौती उपमा ही मानी है। नही तो फिर वह कैसे ! नागोजिभट्ट ने भी इसीलिये लघुमञ्जूषा ग्रन्थ मे निपातो को कहीं पर वाचक भी माना है न कि सर्वत्र ही द्योतक ही।

मालेति—जहा एक उपमेय के अनेक उपमान हो वहा मालोपमालकार होता है। उदाहरण—निशान्त-निद्रेति—जैसे—रात्रि के अन्त की निद्रा सुख देती है, बाल्यावस्था सुख देती है, नई बहू की चकित-सी हुई दृष्टि, गङ्गा और शकर की कथा सुख देती है इसी प्रकार कवि की वाणी, आप को सुख देने वाली हो। यहा एक कवीन्द्र वाणी के पाच उपमान हैं इसलिये यहा मालोपमालकार होता है। कवीन्द्र वाणी उपमेय है और सब उपमान हैं। यहा यह भी जान लेना चाहिये कि उपमेय हीन-गुण होता है और उपमान उत्कृष्ट-गुण ॥

(अनुपमालङ्कारलक्षणम्)

उपमाया निषेधो योऽनुपमा सा प्रकीर्तिता।

उपमायाः सर्वथा निषेधोऽनुपमालंकारः।

अय चानन्वये व्यङ्ग्योऽपि दीपकादावुपमावत्पृथगेवालङ्कारः। एतेनायं न पृथगलङ्कारोऽनन्वयध्वनिनैवोपपत्तेरिति कुवलयानन्दकारकौस्तुभकारः परास्तः। अलङ्कारान्तरेणालङ्कारान्तरध्वननस्यालङ्कारानपवादकत्वात्। उदाहरणम्—

तृणानि शुष्काणि वने चरित्वा पीत्वापि तोयान्यमृतं स्रवन्ति।
यद्गोमयाद्याश्च पुनन्ति लोकान्, गोभिः तुल्यं धनमस्ति किञ्चित् ॥

चरित्वा भ्रमित्वा भक्षयित्वा च। चर गतिभक्षणयोरित्यनुशासनात्। अमृतं गोक्षीरं 'गोक्षीरममृतं स्मृत'मिति स्मरणात्। गोमयादीत्यादिना गोमूत्रपरिग्रहः। 'संभाव्यं गोषु संपन्न'मिति वाल्मीकीयरामायणानुसारं गावो महती संपत्तिः। साम्प्रतिकीं गोहिंसां दृष्ट्वा कस्य सहृदयस्य हृदयं न दुःखयति। गोहिंसा मन्वादिषु यज्ञार्थं लिखिता, आलम्भन-शब्दस्यापि सर्वत्र स्पर्शनमर्थोऽस्त्येव गोकृतेऽन्यार्थविषयम्। यज्ञे तु न दोषो विहितत्वात्। भाष्योक्तकूपखानकन्यायेन पापजनकतापेक्षया पुण्यजनकतायास्तत्र बाहुल्यात्। वस्तुतस्तु गवालम्भादिर्विहितो न भवति, 'फलं न विधेय'मिति सिद्धान्तेन तस्य पापजनकत्वात्। गृह्यसूत्रमतेऽपि गोरालम्भनमुत्सर्जनमेव 'मा गामनागामदितिं वधिष्टे'ति श्रुतेः। अतएव गीतायां यज्ञेषु जपयज्ञस्य श्रेष्ठत्वमुक्तम्। अत्र गवामुपमा केनापि सह नास्तीत्येषोऽनुपमालंकारः। यथा वा मम—

प्रजानां पालने माने तथा धर्मेण शासने।
श्रीरामेण समो राजा न भूतो न भविष्यति॥

अत्र भूतभविष्यद्वर्तमानकालिक राजसु रामोपमा सर्वथा निषिद्धा।

(अनन्वयालङ्कारलक्षणम्)

अनन्वयस्त्वेकस्य ह्युपमानोपमेयता ॥८॥

एकस्यैव वस्तुन उपमानोपमेयत्वकल्पनमनन्वयालंकारः। एवं चास्य द्वितीयसब्रह्मचारिनिवर्तनमेवालङ्कारत्वप्रतिष्ठापकमिति सिद्धान्तः। उपमानोपमेयतेति। उपमानत्वमुपमेयत्वं चेत्यर्थः। उपमानतावच्छेदकधर्म एव यत्रोपमेयतावच्छेदकः सोऽनन्वय इति फलितम्, एकस्येत्युपमालंकारव्यवच्छेदाय। उपमालंकारस्य भेदघटितत्वात्। उपमायां साम्यप्रतीत्या चमत्कार इह तूपमानान्तरव्यवच्छेदेनेति फलवैजात्यादुभयोः पार्थक्यम्। यद्यप्युपमानोपमेययोरैक्यमस्त्यत्र तथापि काल्पनिकभेदाश्रयणे भवतीदृशो रमते। यथाह वाचस्पतिमिश्रचरणा भामत्याम्—'तेन तस्योपमेयत्वं राम-रावणयुद्धवत्। अगत्या भेदमाश्रित्य गतौ सत्यां न युज्यते ॥' उदाहरणं मम

शिक्षणे राजसिंहाना प्रजानां परिरक्षणे।
सता मानेऽर्थिना दाने विक्रमो विक्रमोपम.॥

सता=विदुषा, माने-सम्मानकरणे, अर्थिना दानेऽर्थिभ्यो दाने, चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। अत्र परदु खभञ्जनादिविविधगुणगणालङ्कृतस्य विक्रमशीलविक्रमादित्यस्यानन्यसदृशत्वाभिधानायोपमानोपमेयभावो विवक्षित:॥८॥

उपमेति—उपमा का सर्वथा निषेध करना अनुपमालकार होता है। यह अनुपमा अनन्वय मे व्यङ्ग्य होने पर भी पृथक् है। जैसे—दीपकादि मे उपमा होने पर भी दीपक पृथक् अलकार है। अनन्वयध्वनि से इसकी गतार्थता मानता हुआ अलकार-कौस्तुभकार परास्त जानना क्योकि अलकार से अलकारान्तर का ध्वनन अलकार का अपवाद (बाधक) नही हो सकता। उदाहरण—तृणानीति—जो वन मे सूखे घास को खाकर जल को पीकर अमृत (दुग्ध) देती है। जिसका गोबर और मूत्र सारे लोको को पवित्र कर देता है, ऐसे गोधन के बराबर कोई भी धन लोक मे नही है। वेदो मे तो गौओ को विश्वजननी लिखा है, यथा—'गावो विश्वस्य मातर। गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सप्तभिर्धार्यते मही।

वाल्मीकीय रामायण के अनुसार गौए महती सपत्ति है—आजकल होने वाली गौओ की हिंसा को देखकर किसका हृदय दु खित नही परन्तु क्या करे, कहा जाए, किस से पुकारें। शका—मन्वादि स्मृतियो मे भी गोहिंसा का लेख है फिर वह कैसे? समाधान—वह हिंसा यज्ञाङ्ग होने से दूषित नही। महाभाष्य मे कूपखानक न्याय से भी यही बात सिद्ध की है। वास्तव मे यज्ञीय हिंसा भी विहित नही है, फलवत्तया पापजनक होने से गृह्यसूत्र के मत मे भी गवालम्भ गो-विसर्जन ही है। यहा गौओ की उपमा किसी से भी नही हो सकती। इसका दूसरा उदाहरण प्रजानामिति—श्री रामचन्द्रजी के समान राजा आज तक न कोई हुआ न होगा। यहा राम की उपमा का निषेध किया है अत यह भी अनुपमालकार है।

अनन्वय इति—एक वाक्य मे एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय बनाने से अनन्वय अलकार होता है। अर्थात्—द्वितीय समान

धर्म वाले की निवृत्ति ही इस अलंकारत्व का प्रयोजक है। जहां उपमानतावच्छेदक धर्म ही उपमेयतावच्छेदक हो वह अनन्वय होता है यह फलित हुआ। एक के कहने से उपमालंकार का वर्जन हो गया वहां उपमान और उपमेय दो होते हैं और भेद होता है। उपमालंकार में समानता प्रत्यय से चमत्कार होता है यहां उपमानान्तराभाव से। उपमान और उपमेय यहां एक है तथापि ऐसे स्थलों में काल्पनिक भेद मान लिया जाता है। यही बात भामती में वाचस्पति मिश्र ने दिखाई है अर्थात् उसी का उसके साथ उपमानोपमेयत्व अगतिक गति है। उदाहरण—शिक्षणे इति—राजाओं को यह बतलाने में कि ऐसे राजा होने चाहियें, प्रजाओं के दुःखभञ्जन करने में, विद्वानों के सम्मान करने में, अर्थि=याचकों के मनोरथपूरण में, विक्रम अपने ही समान था। यद्यपि बिना दो वस्तु हुए उपमानोपमेय भाव नहीं बन सकता, क्योंकि उपमा सादृश्य में होती है और सादृश्य दो भिन्न वस्तुओं के समान धर्म होने पर होता है, अतः वह वस्तु अपने ही सदृश हो यह ठीक नहीं है तथापि किसी वस्तु को (जैसे यहां विक्रमादित्य को) अनुपम बतलाने के लिये काल्पनिक उपमानोपमेय भाव मान लिया जाता है।

(स्मरणालंकारलक्षणम्)

तुल्यवस्तुज्ञानजन्या स्मृतिः स्मरणमीरितम् ।

तुल्यज्ञानस्य च वस्त्वनुभूतिं प्रति संस्कारोद्बोधकत्वेन हेतुत्वम् तुल्यत्वधर्मोऽप्यनिष्टत्वात्। 'प्राक्. स्मरामि गगनायमनायकं च' मित्यादिस्मृतेः सादृश्यं विनाप्यलंकारत्वाभावाल्लालंकारत्वम्। एवं भावनाया अपि न तत्त्वं विसदृशेऽपि ज्ञानप्राप्ते हरिभावना दर्शनात्। उदाहरणं यथा नैषधे—

'अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे ।
चिरमप्यवलोकिताद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता ॥

अनया=अनुभवगोचरया, तव भवतः रूपसीमया=रूपस्य पराकाष्ठया, चिरमपि=चिरादपि, विलोकिता सा दमयन्ती स्मृतिमारूढवती

स्मृता । सदृशवस्तुदर्शनात् । स्पष्टमन्यत् । अत्र लोकोत्तरनलदर्शनात्तत्सदृशरूपवत्या दमयन्त्याः स्मृतिरित्यलंकारत्वम् । नल रूपसदृशरूपवती दमयन्तीति शाब्दबोधः ॥

(रूपकालकारलक्षणम्)

उपमानोपमेयस्याभेदो रूपकमिष्यते ॥८॥

उपमेयतावच्छेदक पुरस्कृत्योपमानतावच्छेदकावच्छिन्ना भेदो रूपकालङ्कार । अत्र मुखत्वादिकमुपमेयतावच्छेदक चन्द्रत्वादिकमुपमानतावच्छेदकम् । अतिसाम्यादपह्नुतभेदयोरुपमानोपमेययो चन्द्रमुखयोरभेदप्रत्ययो रूपकमलकार । रूपयति द्वयोरभेदारोपण करोति रूपकमिति तद्व्युत्पत्तेः। ननु 'मुख चन्द्र' इत्यादिरूपकस्थले लक्षणया सादृश्यप्रतीतौ 'चन्द्रवन्मुख' मित्याद्युपमालकारात्तस्मिन् किमपि चमत्कारवैलक्षण्य न दृश्यत इति वाच्यम् । 'मुख चन्द्र' इत्यत्र रूपके चन्द्रादिसादृश्य न प्रतीयते किन्तु चन्द्राभेदः चन्द्राभिन्न मुखमिति शाब्दबोधात् । किंचोपमाया सादृश्यस्याभिधेयत्व रूपके च तस्य व्यञ्जनावृत्तिलभ्यत्वमिति। यथा—

'कृष्ण, त्वदीय पदपकज पञ्जरान्ते ह्यद्यैव मे विशतु मानसराजहस' ।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तै कण्ठावरोधनविधौ स्मरण कुतस्ते ॥'

अत्र मानस मन एव मानससरोवरस्तत्र राजहस, एव पदपकजे स्पष्टमन्यत् । सिंहो माणवक', लोष्ठ पाषाण , इत्यादावभेदारोपेऽपि नालकारत्वम् । प्रतिभोत्थापितत्वाभावेनाचमत्कारित्वात् ॥

प्रकृतोदाहरणे समासकरणात्समस्तरूपकम् । असमस्त तु पृथग् विभक्त्या ज्ञेय यथा वाग्भटालकारे—

संसार एव कूप सलिलानि विपत्ति-जन्मदु खानि ।
इह धर्म एव रज्जु तस्मादुद्धरति निर्मग्नान् ॥

यथा वा—

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलं हि सन्ध्या, वेदाः शाखा धर्मकर्माणि पत्रम् ।
सर्वैर्मूलं यत्नतो रक्षणीय, छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम् ॥

तुल्येति—तुल्य वस्तु के दर्शन से तत्तुल्य वस्तु का स्मरण हो जाना स्मरणालंकार होता है। तुल्य वस्तु का ज्ञान तत्तुल्य वस्तु की स्मृति में संस्कारोद्बोधन द्वारा हेतु बन जाता है। वह तुल्यता दोनों में ही रहती है। चिन्तनादि करने से जायमान स्मृति अलंकार नहीं होती। इसी लिये 'प्रातः स्मरामि' इस पद्य में स्मरणालंकार नहीं, क्योंकि सादृश्य बिना वासना नहीं आती, वासना के बिना चमत्कारत्व नहीं। इसीलिये भावना भी स्मरणालंकार नहीं होती, क्योंकि भावना तो विसदृश में भी रहती है जैसे प्रस्तरमय शालग्राम में विष्णु की भावना। उदाहरण—अनयेति—हे नल, तुम्हारे इस सर्वाधिक सौन्दर्य दर्शन से उद्बुद्ध संस्कारवश, मुझको बहुत पहले देखी हुई भी दमयन्ती का स्मरण हो आया। यहाँ नल रूप दर्शन से दमयन्ती के रूप का स्मरण है।

हरण—संसार एव इति—यह संसार रूप (कूआँ) है इसमें विपत्ति, जन्म लेना, अनेक प्रकार के—आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक दुःख सलिल (जल) हैं। धर्म कर्म रज्जु है, जिस के द्वारा उसमें डूबे हुओं का उद्धार (निष्कासन) होता है, धर्म करने से बड़े से बड़े पाप भी नष्ट हो जाते हैं और कल्याण हो जाता है 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। यह धर्म का सर्वश्रेष्ठ लक्षण है। अर्थात्—जिससे इस लोक में और परलोक में कल्याण (सुख) हो वह धर्म है। दूसरा उदाहरण—विप्रो वृक्ष इति—ब्राह्मण एक वृक्ष है, सन्ध्या उसकी जड़ है, वेद शाखा हैं, धर्म कर्म पत्ते हैं। जिससे मूल की रक्षा हो वह उपाय सब को करना चाहिये।

(प्रतीपालकारलक्षणम्)

प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यं यदि मन्यते।

उपमेयस्यैवोपमानप्रयोजनसाधकत्वेन उपमानकैमर्थ्यं, तिरस्कारफलकोपमानधर्मतोक्तिरिति यावत् प्रतीपालकारः। प्रतीपं निम्नोन्नतस्थलं तत्सादृश्यादलंकारे लक्षणा। यथा जगद्धरस्य—

'शान्तं मनो यदि यमैर्नियमैः किमन्यैः,
वाणी यदि प्रियहिता स्तुतिचाटुभिः किम्।
कारुण्यमस्ति यदि किं व्रतहोमदानैः,
भक्तिर्भवे यदि किमन्यसुखाभिलाषैः॥

यमनियमौ प्रसिद्धौ, स्वार्थमनपेक्ष्यपरदुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यम्, व्रतं भोजननिवृत्तिः। व्रतमिति निवृत्तिकर्मेति निरुक्तोक्तेः। वह्न्यधिकरणकयत्नावच्छिन्नसमन्त्रकक्रियाहोमः। स्पष्टमन्यत्। अत्र शान्त्यादियुक्तमनआद्युपमेयस्यैवमाद्युपमानानां व्यर्थताभिधानात्प्रतीपालकारः। यथावा मम

हे राष्ट्रपति राजेन्द्र, सति युष्मत्कराम्बुजे।
किमर्थं रचिते धात्रा कल्पद्रुः कामधुक् तथा॥

(उत्प्रेक्षालकारलक्षणम्)

संभावना स्यादुत्प्रेक्षा स्वरूपफलहेतुभिः॥१०॥

स्वरूपफलहेतुत्वेन संभावनोत्प्रेक्षालकारः। न च हेतुफलयोरपि

स्वरूपत्वेन स्वरूपोत्प्रेक्षैव सर्वत्र वक्तुमुचितेति वाच्यम्। तस्यां निर्दिष्टेतरस्य किंचिद् विचित्रत्वात्। सम्भावना चोपमानकोटिकः संशयः। उपमेयस्योपमानत्वेन सम्भावनोत्प्रेक्षेति तदाशयः। उत्कटोपमानस्य प्रेक्षा = सन्देहो यत्रेति व्युत्पत्तेः। अतएव नात्र सन्देहालंकारः। सन्देहे द्वयोस्तुल्यकोटिकसंशयात्। उपमायामुपमानोपमेयत्वं लोकसिद्धमिह च कविप्रतिभोत्थापितमिति नोपमापि।

यदाह चक्रवर्त्यपि—'यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति। तदोपमैव येनेवशब्दः साधर्म्यवाचकः। यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः। तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्दः सम्भावनापरः॥ सम्भावना च कविप्रतिभोत्थापितैव चमत्कारिणीति न विस्मर्तव्यम्। क्रमेणोदाहरणानि। तत्र स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा भर्तृहरेः—

'गुरुणा स्तनभारेण मुखचन्द्रेण भास्वता।
शनैश्चराभ्यां पादाभ्यां रेजे ग्रहमयीव सा॥

गुरुणा महता, पक्षे बृहस्पतिना, स्तनभारेण—स्तनयोर्भारेण, स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिरिति मामम.। भास्वता देदीप्यमानेन, पक्षे सूर्येण, स्पष्टमन्यत्। अत्र श्लेषेण तादात्म्यसंपादनद्वारा, काचित् योषिद् गुर्वादिग्रहमयीत्वस्वरूपेणोत्प्रेक्षिता।

फलोत्प्रेक्षा यथा हरविजये—

मन्दाकिनीसलिलनिर्भरपूर्यमाणगम्भीरकुक्षिकुहरोद्गतदीर्घनादम्।
अद्यापि यस्य शिरसि श्रियमेत्यशान्तवेदध्वनीव परमेष्ठिशिरःकपालम्॥

परमेष्ठिशिरःकपालं यस्य भगवतो हरस्य, शिरसि अद्यापि अशान्तवेदध्वनीव श्रियं शोभामेति। अत्र परमेष्ठिनो ब्रह्मणः शिरःकपालं, गङ्गाजलगतागमनादायविद्धमनाप्तवेदध्वनिपरत्वेन फलेनोत्प्रेक्षितम्।

हेतूत्प्रेक्षा यथा नैषधे—

मनागनङ्गविधानुभूता विशेषु वा भीमसुतानलेन।
मालेव यस्या बिसकाण्डरस्य सा ताम्बरीशिन्यमलाक्षि विद्युः॥

सा भीमसुता दमयन्ती, नलेन प्रतिबिम्बमलादि दृष्टा । जितत्र्यम्बकस्य कामस्य शाम्बरीशिल्पमिव । अत्रालोकनैषधसाक्षात्कारो जन्मान्तरानुभवाद्वा, चित्रानुभवाद्वा, केवलमदनमायावशाद्वेति हेतूत्प्रेक्षा । अलङ्कारसर्वस्वकारमते जातिगुणद्रव्यक्रियाभिरप्युत्प्रेक्षणं भवति । जात्यादीनामभावोत्प्रेक्षा यथा-वाल्मीकीयरामायणे—

'बाहुजानां समस्तानामभाव इव मूर्तिमान् ।
जयत्यतियशो रामो जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥

बाहुजानां जातिविशेषावच्छिन्नरूपाणां, क्षत्रियाणामित्यर्थः । 'बाहू राजन्यः' इति श्रुतेः । मूर्तिमानभाव इव प्रध्वंसाभाव इव, अभावभावो मुक्तावलिटीकायां विभावितोऽस्माभिर्विस्तरेण । रामः श्रीपरशुरामः । श्रुतिरप्येनं वर्णयति—'प्रोवाच रामो भार्गवो विश्वन्तरायैरयावौ' । अत्र क्षत्रियत्वजात्यवच्छिन्नाभावोत्प्रेक्षा । 'समस्तलोकेषु खानामिति प्रथमचरणनिर्माणे कृते गुणत्वावच्छिन्नाभावोत्प्रेक्षापि तु खस्य गुणत्वात् ।

क्रियाभावोत्प्रेक्षा यथा मम—

युवतीयुवकावेतौ परस्परमदर्शनात् ।
मन्येऽतिक्षीणतां यातौ वियोगः केन तु सह ॥

अत्र दर्शनक्रियाया अभावोत्प्रेक्षा । द्रव्याभावोत्प्रेक्षा यथा—

मुखं न शोभते ह्यस्याः क्षीणचन्द्र इवापरः ॥

अत्र क्षीणचन्द्र इति द्रव्यवाचकत्वाद् द्रव्याभावोत्प्रेक्षा । एता अभावाभिमानाः । भावाभिमानाश्च स्वयं बोध्याः । पुनश्च ता द्विविधा वाच्याः प्रतीयमानाश्च । इवादीनां सत्त्वे वाच्योत्प्रेक्षा उक्ता उदाहृताश्च । ता इवाद्यभावे प्रतीयमाना यथा नैषधे—

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा ।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥

या कुण्डिनपुरी परिखावलयच्छलेन परेषां शत्रूणां ग्रहणस्य न गोचरा विषमा दुर्बोधा पतञ्जलिकृतभाष्यफक्किका कुण्डलनामापितेव अत्र कुण्डिनपुर्यां कुण्डलितत्वेनोत्प्रेक्षा, सा च व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रतीयमाना ।

प्रतीपमिति—उपमान को निष्फल बताना प्रतीप अलंकार कहाता है। प्रतीपनिम्नोन्नत (ऊँचे नीचे) स्थल को कहते हैं उसकी समानता में यह लाक्षणिक शब्द है।

उदाहरण—शान्तमिति—यदि मन शान्त है तो अन्य यम नियमों की क्या आवश्यकता। यदि वाणी प्रिय और हितवाक्य बोलने वाली है तो स्तुति और चाटु वचनों की क्या आवश्यकता। यदि मन में दया है तो व्रत, होम और दान करने की क्या जरूरत है। यदि शिव में भक्ति है तो अन्य सुखों की इच्छा करना व्यर्थ है। यम नियम प्रसिद्ध ही हैं, स्वार्थ त्याग-पूर्वक पर दुःख को हटाने की इच्छा दया है। व्रत=न खाना, समन्त्रक द्रव्य याग=अग्निहोम' यहाँ शान्त्यादि युक्त मन रहते यम-नियमादि की व्यर्थता बताई गई है॥

प्रतीप का दूसरा उदाहरण—हे राष्ट्रपतीति—हे राष्ट्रपते राजेन्द्र, आपके कर-कमलों के रहते हुए, विधाता ने कल्पद्रुम और कामधेनु दोनों ही व्यर्थ बनाये। यहाँ दोनों की व्यर्थता शब्द द्वारा कही गई।

उत्प्रेक्षा का लक्षण—सम्भावनेति—स्वरूप से, फल से और हेतु से जहाँ किसी प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के रूप में सम्भावना की जाय वह उत्प्रेक्षालंकार होता है। यद्यपि हेतु और फल का भी स्वरूप होता है तो भी उसमें कुछ वैचित्र्य अवश्य रहता है, सम्भावना प्रायः उपमान कोटि के संशय को कहते हैं। सन्देह में दो कोटियाँ समबल रहती हैं। उपमा में उपमान और उपमेय दोनों लोक-सिद्ध होते हैं, और उत्प्रेक्षा में कवि की प्रतिभा से कल्पित होते हैं इसीलिये यह उपमा भी नहीं हो सकती। अक्षर-प्रत्यक्षर यही बात चक्रवर्ती ने काव्यप्रकाश की अपनी टीका में कही है—पदार्थमिति—सम्भावना भी यहाँ कवि-प्रतिभा से कल्पित ही चमत्कारजनक होती है अन्यथा नहीं।

स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण—गुरुणेति—गुरु (महान्) स्तनों के भार से, पक्ष में बृहस्पति से, भास्वान्-देदीप्यमान मुखचन्द्र से, पक्ष में—सूर्य और चन्द्र से, शनैः शनैः चलने वाले पैरों से, पक्ष में—शनिदेव से वह

नायिका सब पद्ममयी-सी शोभित हुई। यहाँ एक स्त्री के पद्ममय स्वरूप का उत्प्रेक्षण किया गया है।

फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण—मन्दाकिनीति—गङ्गाजल से सम्पृक्त पूर्वभाग की गम्भीर कुहर (खोल) वाली बृहद् गुफा, उससे निःसृत दीर्घ शब्द जिसमें ऐसा बड़ा सा सिर कपाल, जिस भगवान् शङ्कर के सिर में लगकर निरन्तर वेदध्वनि करता हुआ सा शोभा को प्राप्त हो रहा है। यहाँ निरन्तर वेदध्वनिनिष्पादन की उत्प्रेक्षा की गई है।

हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण—अनादौति—अनादि सृष्टि-परम्परा में अथवा चित्रों में प्रत्यक्ष की गई अथवा कन्दर्पादि काम द्वारा संपादित उस दमयन्ती को इन्द्रजाल विद्यावत् सब दिशा में नल ने देखा।

यहाँ जन्मान्तरानुभव, चित्रानुभव अथवा कामबल के हेतु होने से हेतूत्प्रेक्षा है। अलङ्कार-सर्वस्वकार (रुय्यक) के मत से जाति गुण द्रव्य और क्रिया इन सभी में उत्प्रेक्षण हो सकता है। उदाहरण—

बाहुमानामिति—क्षत्रिय जाति के प्रध्वंसाभाव करने वाले महाधनी, प्रभावशाली, और जमदग्नि के पुत्र श्रीपरशुरामजी, सर्वोत्कर्ष से वर्तमान हैं। यहाँ क्षत्रियत्व जाति का अभाव उत्प्रेक्षित किया गया है।

समस्तलोकदुःखाना—ऐसा पढ़ने पर गुणाभाव का उत्प्रेक्षण होगा, क्योंकि दुःख गुण है। रूपरसादि गुणों में सुख और दुःख का भी पाठ है, द्रव्यधर्म भिन्न गुण होता है।

क्रियाभावोत्प्रेक्षा का उदाहरण—युवतीति—ये दोनों स्त्री और पुरुष परस्पर अदर्शन के कारण ही अतीव क्षीण हो गये हैं, ऐसा मैं मानता हूँ क्योंकि वियोग दुःसह होता है। यहाँ दर्शन क्रिया का अभाव है।

द्रव्याभावोत्प्रेक्षा का उदाहरण—मुख नेति—इस नायिका का मुख इस प्रकार अशोभित है मानो अपूर्ण चन्द्र हो। चन्द्र एक ही है अतः यहाँ द्रव्याभावोत्प्रेक्षा है। उत्प्रेक्षा दो तरह की होती है वाच्या और प्रतीयमाना, इवादि के रहने पर वाच्या न रहने पर प्रतीयमाना। प्रतीयमाना का

उदाहरण—परिखा छल से जो कुण्डिनपुरी खाई के घेरे के छल से घिरी हुई विषम (दुर्जेय) अतः कुण्डलित पतञ्जलि रचित भाष्य की फक्किका के समान विषम=अप्रवेश्य और शत्रुओं से अग्राह्य थी। यहाँ इवादि होने से प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है।

(उल्लेखालंकारलक्षणम्)

बहुभिर्बहुधैकस्योल्लेखेनोल्लेख इष्यते।

एकस्य बहुभिर्बहुप्रकारेणोल्लेखनमुल्लेखालंकारः। बहुधोल्लेखने च रुच्यादिकं प्रयोजकम्। यदुक्तम्—

यथारुचि यथार्थित्वं यथा व्युत्पत्ति भिद्यते।
आभासोऽप्ययं एकस्मिन्ननुसंधानसाधितः॥

यथा मम—

योगज्ञो योगिभिर्भोजः शाब्दिकैरथ शाब्दिकः।
वैरीवैरिः सभामध्ये कविभिर्ददृशे कविः॥

योगिभिर्योगशास्त्रज्ञैः, शाब्दिकैर्वैयाकरणैः, स्पष्टमन्यत्। योगज्ञत्वादिकं च वास्तविकमेवेति न भ्रान्तिमत्त्वम्। अत्र योगिप्रभृति-ग्रहीतृ-भेदादेकस्य भोजस्य योगज्ञत्वादिनोल्लेखश्चमत्कारजनकः। अभेदे भेद-रूपातिशयोक्तितो नायं भिद्यते, इति सुधासागरकारायुक्तिस्तु तुच्छा, अलंकारतत्त्वज्ञानां प्राचीनानां विभागस्यापामरेण खण्डयितुमशक्यत्वात्। सन्देहाश्रयोऽप्ययं भवति—

'किं भानुः किमु विभ्रमानुरिति यं निश्चिन्वते वैरिणः'

इत्यादावेकस्यैवानेकधात्वोल्लेखनादिति सूक्ष्ममीक्षणीयम्।

(भ्रान्तिमदलंकारलक्षणम्)

तौल्यादतस्मिन्या तद्धीर्भ्रान्तिमान् प्रतिमान्वितः॥११॥

भ्रान्तिश्चित्तधर्मो विद्यते यस्मिन् स भ्रान्तिमान्। अतस्मिस्तद्भिन्न वस्तुनि, तौल्यात्तुल्यताप्रयुक्तं तद्वस्तुत्वप्रकारकं ज्ञानं भ्रान्तिमानलंकार

उत्प्रेक्षाया सम्भावयितुः सम्भावनाविषयस्य प्रकृतस्य ज्ञानं भवति नात्रेति भेदः। इदं रजतमिति रङ्ग विशेष्यकबोधवारणाय प्रतिभान्वित इति विशेषणम्। कविप्रौढोक्तिसिद्ध इति तदर्थः। उदाहरणम्—

पलाशकुसुमभ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलिः ।
सोऽपि जम्बूफलभ्रान्त्या तमलिं धर्तुमिच्छति ॥

शुकतुण्डे—शुकमुखे, 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना तुण्डे तुण्डे सरस्वती'-त्याभाणकात्। सोऽपि शुकोऽपि तमलिं भ्रमरं स्पष्टमन्यत्। अत्र परस्पर-निबन्धना भ्रान्तिश्चमत्कारकारिणी, चमत्कारजनकतामन्तरेणालङ्कारत्वा-योगात्।

दामोदरकराघातविह्वलीकृतचेतसा ।
दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥

इत्यत्र तु नायमलङ्कारः। मर्मप्रहारकृतचित्तविक्षेपजन्यभ्रान्तेः समानताप्रयोज्यत्वाभावात्।

उल्लेखालंकार का निरूपण करते हैं—बहुभिरिति—बहुतों से एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख (वर्णन) करना उल्लेखालंकार कहाता है। बहुधा वर्णन में रुच्यादिक प्रयोजक होते हैं। यथेति—जिसकी जैसी रुचि होती है, जिसका जैसा मतलब होता है जिसकी जैसी व्युत्पत्ति (भावना) होती है, उसे वह वस्तु वैसी ही दीखती है। उदाहरण—यौगन्ध इति—यहां भोज में योगन्धत्वादि धर्म वास्तविक हैं अतः यहां भ्रान्तिमान् अलंकार नहीं। वस्तुतः भोज था भी ऐसा ही। एवं ही भोज में अनेक प्रकार का वर्णन चमत्कारजनक है। सुधासागरकार ने अभेद में भेदरूपातिशयोक्ति में ही उल्लेख का अन्तर्भाव किया है परन्तु वह ठीक नहीं क्योंकि अलंकार के मर्मज्ञ प्राचीनों का विभाग खण्डित नहीं हो सकता। सन्देहाश्रय भी उल्लेख देखने में आता है—किंभानु-रिति—क्या यह भानु (सूर्य) है अथवा चित्रभानु (अग्नि) है। इस प्रकार कहते हुए जिसको निश्चित करते हैं यहां भी एक व्यक्ति का ही अनेक प्रकार से उल्लेखन (वर्णन) किया गया है।

भ्रान्तिमान् अलकार का लक्षण—सौत्यादिति—सादृश्य के कारण अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान को यदि वह कवि-प्रतिभा से अन्वित हो भ्रान्तिमान् अलकार कहते है। उत्प्रेक्षा मे प्रकृत का ज्ञान रहता है पर यहा नही।

इद रजतम्—यहा रज्जु-विशेष्यक शाब्दबोध को हटाने के लिये प्रति-भान्वित विशेषण कहा, जिसका अर्थ है—कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध। उदा-हरण—पलाशेति—ढाक का पुष्प (टेसू) के भ्रम से भ्रमर तोते के मुख पर बार-बार पड़ता है। तोता भी जम्बू (जामन का) फल समझ कर भ्रमर को खाना चाहता है। यहा दोनो को ही भ्रम होना चमत्कार-जनक है। जहा चमत्कार नही वहा अलकार ही नही होता। इसीलिये 'दामोदर' इस पद्य मे यह अलकार नही है क्योकि यहा चित्त-विक्षेप होने के कारण भ्रान्ति हुई है, समानता प्रयोज्य नही।

(सन्देहालंकारलक्षणम्)

प्रस्तुतेऽन्यस्य सन्देहः चमत्कारकरः स हि।

उपमेयतावच्छेदके उपमानतावच्छेदकस्य चमत्कारजनक-सादृश्यजन्यः सन्देहः सन्देहालकारः। अयमलकारसर्वस्व-प्रकाशादिषु ससन्देह इति कथ्यते। उदाहरण मम—

किमय खलु मार्तण्डः कृशानुरथ किंयमः।
विक्रमादित्यमालोक्य रणे सन्दिदिहे शकैः॥

विक्रमादित्यम्=विषमशील विक्रमादित्यम्, अयं विक्रमादित्यो गाथासप्तशती, राजतरङ्गिणी, कथासरित्सागरादिषु वर्णितो विषमशील-हर्षाद्यपरनामा महेन्द्रादित्यपुत्रः शाक-संवत्प्रवर्तको ब्राह्मणवंशावतंसः कुन्तलसातकर्णिः सातवाहनविक्रम आसीत्। गाथासप्तशतीकर्ता दीपकर्णि-सूनुः हाल सात वाहनस्तु गौतमीपुत्रः सातकर्णिरासीत्। अधिकं मदीये सस्कृतेतिहासे द्रष्टव्यम्। अत्रोपमेयभूत-विषम-राजनि दुर्निरीक्ष्य दुराधर्ष-सकलहन्तृत्वसामान्यान्मार्तण्ड-कृशानु-कृतान्तत्व-संशयः चमत्कारकारकः॥

निर्णयान्तोऽप्यसौ दृश्यते यथा—

दूरतया स्थूलतया नीलतया दानलोलुपैर्मधुपैः ।
भ्रमितमिभराजधिया हन्तामीदन्ततो महिषः ।।

मधुपैर्भ्रमरैः । इभराजधिया=हस्तिभ्रमेण, हन्तेति खेदे । स्पष्टमन्यत् । अन्योक्तिरप्यत्र ध्वन्यते। क्रियाद्यभावे प्रतीयमानोऽप्यसौ भवति । यथा नैषधे—'महीकृतार्था यदि मानवोऽसि जिता दिवा यद्यमरेषु कोऽपि । कुलं त्वयालङ्कृतमौर' चेन्नाधोऽपि कस्योपरि नागलोकः ।। नागलोकः पातालमधोऽपि सर्वोपरीत्यर्थः ।। यत्त्वत्र 'तीरे तरुण्या वदनं सहास'मिति पद्यमुदाहृत्य, अत्र पुरोवर्तिनि कमलमिदमिदं वेति भ्रमरगतः संशयो व्यङ्ग्य इति रसगङ्गाधरकार उक्तवांस्तन्न शोभनम् । अत्र 'आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा, इति मुग्धपदेनोभयत्र सहकारेण संशयस्य वाच्यत्वात् । एवं चाग्रिमेऽपि उदाहरणे संशयस्य वाच्यत्वमेव तद्वाचक, किंशब्दसद्भावादित्यलंकाराचार्यैर्विचार्यं किमुक्तं संलङ्गपुङ्गवेन ।

(अपह्नुत्यलङ्कारलक्षणम्)

अपह्नुतिरलंकारोऽपह्नवात्कस्यचिद्भवेत् ।।१२।।

किंचिदपह्नुत्यान्यस्य सत्यतया स्थापनमपह्नुतिरलंकारः । यथा नैषधे—

साक्षात्सुधांशुर्मुखमेव भैम्या दिवः पुनर्लाक्षणिकः शशाङ्कः ।
एतद्भ्रुवौ मुख्यमनङ्गचापं पुष्पं पुनः तद्गुणमात्रवृत्त्या ।।

लाक्षणिको लक्षणागम्यो नत्वभिधेयः । लक्षणा च शक्यतावच्छेदकारोपः अभिधेयत्वापेक्षया लाक्षणिकत्वस्य अधन्यत्वमेव ।

अत्र चन्द्रे सत्यसुधांशुत्वमपह्नुत्य भैमीमुखे सत्यसुधांशुता स्थापिता । एवं एतद्भ्रुवावेव मुख्यं कामधनु पुष्पं तु भ्रूगुणोद्दीपकत्वादि गुणसाम्यात् । 'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते', इत्यत्रापीयमेव न तु रसगङ्गाधरालंकारकौस्तुभकाराभ्यामुक्त दृढारोपरूपकं दण्ड्यादिग्रन्थविरोधात् । न चेयं प्रकृतान्यत्वरूपातिशयोक्तिः । प्रकृतं निषिध्यान्यार्थस्य स्थापनात् ।

नाम सर्ग, इत्यादिर्नास्य विषयः। कविप्रतिभया तदनुत्थानात्।

सन्देहालंकार का लक्षण—प्रस्तुत इति—प्रस्तुत अर्थात् उपमेय में अन्य अर्थात्—उपमान का संशय होना सन्देहालंकार होता है परन्तु संशय चमत्कारजनक होना चाहिए। सर्वस्वादिकों में यह ससन्देह नाम से कहा गया है। उदाहरण—किमयमिति—यह विक्रमादित्य क्या सूर्य है, क्या अग्नि है, अथवा यमराज है रणभूमि में विक्रमादित्य को देखकर इस प्रकार शत्रु राजाओं ने सन्देह किया। यहाँ उपमेयभूत विक्रमादित्य राजा में—दुर्निरीक्ष्यत्वेन सूर्य का, दुराधर्षत्वेन अग्नि का, सकल हन्तृत्वेन यमराज का सन्देह हुआ। और यह सन्देह चमत्कार को धारण करता है। सन्देहालंकार निर्णयान्त भी देखा जाता है। उदाहरण—दूरतयेति—दूर (लम्बा चौड़ा) होने से, स्थूल (हृष्ट-पुष्ट) होने से, नील (काला) होने से, दान की इच्छा वाले भ्रमर हाथी के सन्देह से इधर उधर घूमे, परन्तु खेद है कि वह महिष (भैंसा) निकला। यहां अन्योक्ति भी ध्वनित होती है। यहां रसगङ्गाधरकार ने दो उदाहरण दिये हैं और दोनों में संशय को व्यङ्ग्य माना है परन्तु दोनों में ही संशय वाच्य है, व्यङ्ग्य नहीं। कारण-पहले में संशय का वाचक 'मुग्धपद' है। दूसरे में संशय का वाचक 'कि' शब्द है। अलंकार के विद्वानों को जानना चाहिये कि तैलङ्ग पुङ्गव (जगन्नाथ) ने यह क्या कहा।

अपन्हुति का लक्षण—अपन्हुतिरिति—सत्य को असत्य बनाकर किसी को सत्य बनाना अपन्हुति अलंकार कहाता है। उदाहरण—साक्षादिति—भैमी (दमयन्ती) का मुख ही सत्य चन्द्रमा है, आकाश का कलङ्कयुक्त चन्द्रमा सत्य-चन्द्रमा नहीं है। यहां चन्द्र की सत्यता हटा कर भैमी मुख की सत्य-चन्द्रता सिद्ध की है—न विषय—यहां भी यही अलंकार है, रसगङ्गाधरकारायुक्त दृढारोप रूपक नहीं क्योंकि दण्ड्यादि के ग्रन्थ से विरोध है। अतिशयोक्ति भी यहां नहीं। नाम में अपन्हुति नहीं कविप्रतिभा से उत्थापित न होने से॥

(निश्चयालंकारलक्षणम्)

उपमानं निषिध्यान्यस्थापनं निश्चयो मतः।

उपमानं निषिध्य, प्रकृततावच्छेदकरूपेण ज्ञातस्योपमेयस्य स्थापनं निश्चयालंकारः। यथा दर्पणे—

वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते।
इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर मुधा किं परिभ्रमसि॥

हे भ्रमर, इदं मुखं न कमलम्, न च यद्धर्मावच्छिन्नवाचकपदोत्तरं नञ्पद प्रयुज्यते, तद्धर्मावच्छिन्नाभाव एव नञा बोध्यत इति नियमः। तथा चेदन्तावच्छिन्नवदनत्वाभावो बोध्यते न सरोजत्वाभाव इति वाच्यम्। सति तात्पर्येऽन्याभावबोधनस्याप्यानुभविकत्वात्। अत्रोपमानभूतसरोजादीनां निषेधेनोपमेयभूतवदनादेः स्थापनान्निश्चयालंकारत्वम्। 'निश्चित्य वदामि तुल्यमिति' नास्य विषयो वैचित्र्याभावात्।

(अतिशयोक्त्यलंकारलक्षणम्)

कथ्यतेऽतिशयोक्तिः सा प्रस्तुतोत्कर्षवीर्यतः॥१३॥

अतिशयिता लोकोत्तरोक्तिरतिशयोक्तिः। अतिपूर्वकशीङ्धातोरुत्कर्षे वृत्तिः। उत्कर्षश्चाविषयकलको न्यक्कारो सत्वाविषयमात्र तथा सत्यकर्मकत्वापातात्। न चेष्टापत्तिः शुक्लमतिशेते शुक्लतर इति भाष्यविरोधात्। वर्णनीयार्थोत्कर्षबोधजनकत्व तत्त्वम्। इयं पञ्चविधा अभेदे भेदरूपा, भेदेऽभेदरूपा, असंबन्धे सबन्धरूपा, सबन्धेऽसंबन्धरूपा, कार्यं कारणविपर्यासरूपा चेति। अभेदे भेदरूपा यथा मम—

अन्या विक्रमसंपत्तिरन्या चातुर्यधोरणी।
अन्यद्धैर्यं च गाम्भीर्यं विक्रमादित्यभूपतेः॥

अत्र विक्रमस्य लोकप्रसिद्धविक्रमादेरभेदेऽपि लोकोत्तरत्वप्रतिपादनाय भेदो वर्णितः। अयं विक्रमादित्यः चन्द्रगुप्त द्वितीय आसीत्। काव्यप्रकारहरिषेण कालिदासोऽस्यैव सभाकविरासीत्। अधिकं मदीये संस्कृतेतिहासे द्रष्टव्यम् भेदेऽभेदरूपापि यथा ममैव—

कामे यदस्ति सौन्दर्यं प्रतापस्तपने च य ।
रामे पश्यतु तत्सर्वं विष्णौ यश्च वलोचय ॥

अत्र कामादि-रूपादेर्भेदेऽपि सर्वगुणाभिरामे रामेऽभेदो वर्णित । असबन्धे सबन्धरूपा यथा विक्रमाङ्कचरिते विह्लणस्य—

सहोदरा कुङ्कुमकेसराणा भवन्ति नून कवितावलासा ।

अत्र कुङ्कुमकेसराणा कवितावलासानां च सहोदरत्व तर्कितमेव न तु वस्तुत । तेन कविता-विलासानामतिशयो व्यज्यते । ममापीय यथा—

गृहा मगर्या देहल्या विहायस्तलचुम्बिन ।

अत्र चुम्बनस्य वक्त्रसयोगस्य गगनतले आघातसयोगे लक्षणा, गृहाणामत्युच्चत्वबोधन प्रयोजनम् । सबन्धेऽसबन्धरूपा यथा—

रे चित्त, चिन्तय चिर चरणौ मुरारे पार गमिष्यसि यथा भवसागरस्य ।
पुत्रा कलत्रमितरे न हि ते सहाया सर्वं विलोकय सखे मृगतृष्णिकाभम् ॥

अत्र स्वस्य पुत्रकलत्रादिना लौकिकसबन्धेऽप्यसबन्धो वर्णित । कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्यासो द्विविध । कारणात्कार्यस्य पूर्वं निबन्धने द्वयो समकालावच्छेदेन निबन्धने च । प्रथमो यथा मम—

चिरमुत्कण्ठित चित्त देवकीवसुदेवयो ।
पूर्वमानन्दित पश्चादभवत्कृष्णसभव ॥

अत्र कृष्णजन्म-कारण चित्तानन्द कार्यम् । द्वितीयो यथा वामदेवस्य,

सममेव समाक्राम्यद्वीररत्न जवाहर ।
हिन्दुस्थानराजधानीं हिन्दुस्थानस्य सुहृन्द ॥

हिन्दुस्थानराजधानीं देहलीम् । सुहृन्द शत्रूनप्रजाश्च समाक्राम्यदजेष्ट । प्रथमलक्षणे भेदेऽपि दृश्यते 'द्वासुपर्णा सयुजासखायो समान वृक्ष परिषस्वजाते । तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति । प्रथमभेदेऽपि भेदरूपातिशयोक्ति । सिद्धान्तश्रुतिषु जीवब्रह्मणोरभेदस्यैव वर्णनात् । न च 'नाहमीश्वर' इत्यादि प्रत्यक्ष तत्र मानम् । अह गौर इत्यादिवद्भ्रान्तत्वात् । न च सहैव श्रुतिरप्रमाणेति वाच्यम् । भक्त्यर्थं कल्पित द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरमिति सिद्धान्तेन द्वैतार्थमस्या श्रुतेरावश्यकत्वात् ।

द्वैधं तु यत्र स्यात्प्रमाणमुभयं तत इत्युक्तेश्च ॥ अधिकं मदीयवेदान्तसार-टीकायां द्रष्टव्यम् ।

निश्चयालकार का लक्षण—उपमानमिति—उपमान का निषेध करके उपमेय की स्थापना करना निश्चयालकार है। उदाहरण—वदनमिति—हे भ्रमर, यह मुख है कमल नही, ये नेत्र हैं कमल नहीं, फिर तू व्यर्थ ही इस स्त्री के आसपास क्यो घूम रहा है। यद्यपि 'वदनमिद न' का न वदन से आगे है उसी के अभाव का बोधक होना चाहिये तो भी तात्पर्य होने पर अग्रिम के भी अभाव का सूचक हो जाता है। यह सिद्धान्तकौमुदी-प्रकाश मे हमने अर्थवत्सूत्र पर विचार किया है। यहा उपमानभूत कमलादि का निषेध करके उपमेय वदनादि का स्थापन किया गया है। वैचित्र्या भाव से 'निश्चित्य वदामि' मे यह अलकार नही।

अतिशयोक्ति का लक्षण—कथ्यत इति—प्रस्तुत (वर्णनीय) अर्थ के उत्कर्ष की बोधजनकता अतिशयोक्ति अलंकार है। वह उत्कर्ष यहा वर्णनीयार्थ की अधिकता अन्य का तिरस्कार-फलक है। केवल अधिकता-मात्र नही ऐसा न मानने पर यह धातु अकर्मक बन जावेगा। अकर्मकता भाष्यविरुद्ध है। अतिशयोक्ति के पाच भेद हैं (उनमे अभेद मे भेदरूपा का उदाहरण—अन्येति—विक्रमादित्य की पराक्रमकता, चातुर्यप्रकार, धैर्य और गम्भीरता ये सब अन्य ही थे। यहा यह दिखाया है कि विक्रमादित्य नरेश अलौकिक था।

भेद मे अभेद का उदाहरण—कामे इति—कामदेव मे जो सौन्दर्य है तपन (सूर्य) मे जो प्रताप है और विष्णु मे जो बल है वे सभी राम मे विद्यमान थे। यहाँ रूपादि का भेद होने पर भी अभेद का वर्णन किया। असबन्ध मे सबन्धरूपा का उदाहरण—सहोदरा इति—कविता-विलास कुकुम-केसरो के भाई हैं। यहा भ्रातृत्वसबन्ध कल्पित है और उससे कविता-विलासो का उत्कर्ष ध्वनित होता है। दूसरा उदाहरण—गृहा इति—देहली के घर अत्यन्त ऊँचे हैं। यहा विहायस्तल चुम्बन का सबन्ध कल्पित मात्र है, अत्युच्चत्व-बोधन प्रयोजन है।

सबन्ध मे असबन्धरूपा का उदाहरण—रे चित्तेति—रे मन, तू कुछ समय भगवान् विष्णु का चिन्तन कर, जिससे भवसागर को पार कर सके। पुत्र, स्त्री, भाई, बन्धु और मित्र तेरा कोई भी सहायक सबन्धी नहीं है। हे मित्र, देख, ये सब मरुमरीचिका सलिल तुल्य हैं। यहा पुत्रादि से लौकिक सबन्ध होता हुआ भी निषिद्ध किया है। कार्यकारण के पौर्वापर्य का विपर्यय दो प्रकार से होता है, एक तो कारण से पहले ही कार्य को वह देने से, और दूसरा दोनों के साथ-साथ रहने से। पहले का उदाहरण—चिरमिति—देवकी और वसुदेव का चिरकाल से उत्कण्ठित चित्त पहले ही आनन्दित हो गया, और कृष्णजन्म पीछे हुआ। यहा कृष्णजन्म कारण है और चित्त का आनन्द होना कार्य। दोनों का विपर्यय हुआ।

दूसरे का उदाहरण—सममेवेति—वीररत्न जवाहरलाल ने हिन्दुस्थान की राजधानी देहली को और हिन्दुस्थान के परम शत्रु अग्रेजो को एक-साथ ही वश मे कर लिया। यहाँ शत्रु जय कारण और नगरीवशीकरणकार्य दोनो एक साथ कहे गये। यह अलकार वेद मे भी देखा जाता है। द्वासुपर्णेति—दो जीव और ब्रह्म सुपर्ण=समान पतनशील, सयुजा=सहयोगी, सखि=मित्र, एक शरीर को आलिङ्गन करनेवाले, इनमे से एक सब आनन्दो का भोक्ता है दूसरा नही भोगता हुआ भी इच्छामात्र करता है। यह अभेद मे भेदरूपातिशयोक्ति है। अधिक हमारी वेदान्तसार की टीका मे देखें। फिर यह श्रुति अप्रमाण है नही ? भक्ति के लिये कल्पित द्वैत (उपास्य उपासकभाव) अद्वैत से भी सुन्दर है। इस सिद्धान्त से यह श्रुति द्वैत के लिये आवश्यक है। और जहाँ दोनों जगह श्रुतिप्रमाण हों वे दोनो ही पक्ष ठीक हैं।

(तुल्ययोगितालकारलक्षणम्)

प्रकृताऽप्रकृतानां वैकधर्मस्तुल्ययोगिता।

प्रकृतानामेवाऽप्रकृतानामेव वा

सालंकारः। तुल्यायोगिताऽन्वयो यत्रेति व्युत्पत्तेरन्वर्थसंज्ञेयम्। यथा मम—

आधयो व्याधयो लोके नेतयश्च कुरीतयः।
नासन्मार्याः कुनार्यश्च रामे राज्यं प्रशासति॥

अत्र रामराज्यस्य प्रकृतत्वादप्रकृतानामेवाध्यादीनामेकयानासन् क्रियया सम्बन्धः। इदमपि रामराज्ये बोध्यम्। नासीत् स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ यथा वा च।णक्यनीतौ—

भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः।
विद्यार्थी निन्दकः शत्रुर्गुरुः शत्रुरपाठकः॥

अत्र भार्यादीनां सर्वेषामप्रकृतानामेव शत्रुत्वरूपैकगुणसम्बन्धः॥

(दीपकालङ्कारलक्षणम्)

प्रकृताऽप्रकृतानां चैकधर्मो दीपकं मतम्॥१४॥

प्रकृतानामप्रकृतानां चैकधर्मान्वयो दीपकालङ्कारः। दीप इव दीपकं संज्ञायां कप्रत्ययः। प्रकृतैकनिष्ठ साधर्म्यमप्रकृतेऽप्युपकरोति, प्रासादार्थं रक्षितो दीपो रथ्यायामिवेति दीपकसाम्यम्। यत्तु रसगङ्गाधरकारेणोक्तं तुल्ययोगितादीपकयोर्न यथार्थ भेद इति। तन्न सम्यक्। प्रकृतानामप्रकृतानां धर्मैक्ये दीपकम्।। प्रकृतानामेव अप्रकृतानामेव वा धर्मैक्ये तुल्ययोगितेति द्वयोर्भेदस्य प्राचीनैः स्वीकारात्। उदाहरणं मम—

जलार्वनस्य जाह्नव्या जनन्या जन्मभूमितः।
प्रियायाः स्वस्य जातेश्च दर्शनात्को न तुष्यति॥

अत्र प्रियत्वविशेषणोक्तेर्जातेः प्रकृतत्वमितरेषामप्रकृतत्वमेकधर्मः क्रियादृप्तस्तोषः। न चास्य विषये व्यंग्योपमयैवास्तु निर्वाह इति वाच्यम्। काव्यस्य दीपकमुखेनैव चमत्कारकरत्वात्।

तुल्ययोगिता का लक्षण—प्रकृताऽप्रकृतेति—केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत पदार्थों का एक धर्माभिसम्बन्ध तुल्ययोगिता होती है। अर्थात् परस्पर संबन्ध का या अन्वय का तुल्य होना, जिस अलंकार में प्रावर-

णिक में अथवा अप्राकरणिक मे ही एक धर्म का अन्वय सबन्ध प्रदर्शित हो वह तुल्ययोगिता है।

उदाहरण—आधय इति—श्रीराम के राज्य मे न तो कोई आधि (मानसिक व्यथा) से दु खित था और न ही व्याधि (शारीरिक पीडा) से पीडित था। न कोई ईति (राजसबन्धी चोरसबन्धी तथा अवृष्टि, अधिक वृष्टि आदि उपद्रव था और न ही कोई सामाजिक कुरीतियाँ थी। न किसी भी प्रकार की कोई बीमारी थी और न कोई स्त्री या पुरुष व्यभिचारी थे। अर्थात् सब प्रकार से प्रजा सुखी थी। भार्येति—रूपवती-भार्या शत्रु है, मूर्ख पुत्र शत्रु है, निन्दक छात्र शत्रु है—और जो गप्प लगाकर समय नष्ट करता है पढाता कुछ भी नही वह गुरु शत्रु है। यहाँ शत्रुत्वरूपैक गुण सबन्ध है।

दीपक का लक्षण—प्रकृत। प्रकृतेति—जहाँ प्रकृत और अप्रकृत पदार्थो मे एक धर्म का सबन्ध हो वहाँ दीपक अलकार होता है। दीपक शब्द मे सजा अर्थ मे कन्प्रत्यय हुआ। अर्थात् जहाँ प्रकृत धर्म अप्रकृत मे भी उपकार करे जैसे घर मे रक्खा हुआ दीवा गली मे भी प्रकाश करता है। उदाहरण—जनार्दनस्येति—भगवान् जनार्दन (कृष्ण) जाह्नवी (गङ्गा) जननी (माता) जन्मभूमि और अपनी जाति, इन पाँचो के देखने मे कौन ऐसा होगा जिसके हृदय मे आनन्द न होता हो। यहाँ जाति प्रकृत है और सब अप्रकृत, एक धर्म लोप किया है। यहाँ दीपक का चमत्कार होने से व्यग्योपमा नही हो सकती ॥

(प्रतिवस्तूपमालकारलक्षणम्)

वाक्ययोरेकधर्मत्वे प्रतिवस्तूपमा मता।

उपमानवाक्ये उपमेयवाक्ये चैकस्य साधारणधर्मस्य शब्दभेदेनोपादाने प्रतिवस्तूपमालकारः। प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमेति व्युत्पत्तेः। वाक्ययोरिति वाक्यानामप्युपलक्षणम्। तथा चैकस्य विभिन्नशब्दोपात्तत्व प्रति-

वस्तूपमेति फलति । एकेति दृष्टान्तव्युदासाय । उदाहरणं मदीये संस्कृतेतिहासे—

को न प्रसीदति जनः समीक्ष्य किरणावलिम् ।
कुसुमाञ्जलिमाघ्राय कस्य चेतो न तृप्यति ॥

अत्र वाक्यद्वये प्रसन्नतारूप एको धर्मः शब्दद्वयेनोपात्तः । प्रसादतृप्त्योरनर्थान्तरत्वात् । किरणावलिकुसुमाञ्जलिन्यायग्रन्थौ, पक्षे—किरणानामावलिः कुसुमानामञ्जलिः । श्लेषचमत्कारादलंकारत्वम् ।

उत्कर्ष उपमेयस्योपमानाद् व्यतिरेककः ॥१५॥

उपमानापेक्षयोपमेयस्य गुणविशेषकृतोत्कर्षो व्यतिरेकालंकारः । यथा मम—

कलङ्कक्षयशून्योऽसि बिभर्षि सकलाः कलाः ।
सदा सम्पूर्ण कृष्ण त्वं चन्द्रो मूर्खेण भण्यसे ॥

अत्रोपमानभूतचन्द्रापेक्षयोपमेयभूतस्य कृष्णस्योत्कर्षो वर्णितः । यथा मम

गृहे गृहे कलत्राणि मातरश्च गृहे गृहे ।
मातरो सदृशी माता पत्नी भक्त्या न सदृशी ॥

न च स्त्रीवाचकस्य कलत्र शब्दस्य कथं नपुंसकत्वमिति वाच्यम् । एकार्थे शब्दान्तरात् दृष्टं लिङ्गान्यत्वमिति भाष्योक्तेः । यथा पुष्यः तारा-नक्षत्रमिति संघटः । अत्रान्यमातृपत्नीनामपेक्षया स्वमातृपत्न्योः पुत्रवात्सल्यपतिभक्तिरूपगुणोत्कर्षः कविना वर्णितः । अलंकारसर्वस्वकारस्तूपमानापेक्षयोपमेयस्य न्यूनत्वेऽपि व्यतिरेकमाह यथा मम—

श्रीकृष्णाननिःसृता भगवद्गीता निपीतवताम् ।
मोक्षाय कल्पते नो वेदान्तानां विचारतोऽपि ॥

अत्र भगवन्मुखनिःसृताया गीताया अपेक्षया वेदान्तानामुपमेयत्वेन विवक्षितानामपकृष्टत्वं वर्णितम् ।

प्रतिवस्तूपमा का लक्षण—वाक्ययोरिति—जिन दो वाक्यों में सादृश्य प्रतीयमान होता हो, उनमें यदि एक ही साधारण धर्म को पृथक्-

पृथक् शब्दों से कहा जाय तो प्रतिवस्तूपमालंकार होना है। उदाहरण—कोनेति—कौन नैयायिक उदयन की किरणावलि (प्रशस्तपादभाष्यटीका) और न्यायकुसुमाञ्जलि को देख कर प्रसन्न नहीं हो जाता। पक्ष में सूर्य या चन्द्र की किरणों की पंक्ति को और कुसुमों की अञ्जलि को, यहाँ एक ही प्रसन्नतारूप वस्तु दो शब्दों से कही गई है॥

व्यतिरेक का लक्षण—उत्कर्ष इति—उपमान से उपमेय का आधिक्य वर्णन करने में व्यतिरेकालंकार होता है। उदाहरण—कलङ्केति—हे कृष्ण, तू कलङ्क और क्षय दोनों से शून्य है, समस्त कलाओं को धारण करने वाला है, और सदैव सम्पूर्ण रहता है, फिर भी मूर्ख लोग तुम्हें कृष्णचन्द्र कह कर पुकारते हैं। यहाँ उपमान चन्द्र से उपमेय कृष्ण का उत्कर्ष कहा है। दूसरा उदाहरण—गृहे गृहे इति—सब घरों में पत्नियाँ और माताएं हैं, परन्तु हमारी जैसी माता और पत्नी नहीं, यहां अपनी माता और पत्नी में क्रमशः पुत्रवात्सल्य और पति, भक्ति-रूप गुण का उत्कर्ष कवि से वर्णित है। अलंकार-सर्वस्वकार उपमान की अपेक्षा उपमेय की न्यूनता में भी व्यतिरेक मानते हैं, उदाहरण—श्रीकृष्णेति—श्रीकृष्ण के मुख से निःसृत भगवद्गीता को सुनकर वेदान्तशास्त्र का विचार भी फीका लगने लगता है।

(सहोक्त्यलंकारलक्षणम्)

सहोक्तिस्तु सहार्थस्य बलेनैकं द्विवाचकम् ।

यत्र सहार्थस्य बलादेकं क्रियापदं द्वयोर्वाचकं स सहोक्तिरलंकारः। अपदं न प्रयुञ्जीतेति भाष्योक्तेः केवलप्रातिपदिकस्य प्रयोगासामर्थ्यादेका-दौस्वादिविभक्तयः। उदाहरणं रसगङ्गाधरे—

पद्मपत्रं नृणां नेत्रं सह लोकत्रयत्विषा।
उन्मीलन्तो निमीलन्तो जयति सवितुः करा ॥

सवितुः सकलापदातु सूर्यस्य, कराः किरणाः, स्पष्टमन्यत्, अत्र विद्यति प्रसरण-संकुचनरूप उन्मीलन-निमीलने भिन्नेऽपि जयन्तीत्यनेन

संबध्येने। हेमचन्द्रस्तु–सहभावस्योक्तिः सहोक्तिरित्याह। सहभावार्थोऽत्र साहित्यम्, यथास्मद्विद्वच्चतुर्भोदत्तस्य वेः—

शब्दे न्याये च साहित्ये कवित्वे दर्शनेषु च।
सम लीलायते वाणी, दम्भुरामस्य मद्गुरोः॥
सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी।

इत्यत्र तु नायमलङ्कारोऽतिशयोक्तिमूलत्वेनास्याभावात्।

(विनोक्त्यलङ्कारलक्षणम्)

सा विनोक्तिर्विना किंचित्केनचिद्यत्र शोभते ॥१६॥

यत्र किमपि वस्तु केनापि विना न शोभते स विनोक्तिरलंकारः। विना भावस्योक्तिर्विनोक्तिरित्यन्वर्थसंज्ञेयम्। सा चार्थनियम्यैव। तेनात्र नानाविधोऽनेकविधो भवति। क्रमेणोदाहरणम्—

सपदि सपरिष्वक्तो विद्यया चानवद्यया।
नरो न रोचते लोके विना विनयसम्पदम्॥

अवद्यं पापमिति कौमुदीकारः। अनवद्यया सत्कृतविद्यया, सपरिष्वक्तः समुपभाग्ययुक्तो वेदमी-दीपकन्यायात्। न रोचते मुख्य इति शेषः। शब्दसामर्थ्यंप्रत्ययात्प्रयोगः।

मानो नारी निरूपमा लोकयात्रा।

विचार, सहोक्ति का लक्षण—सहोक्तिरिवति—सहशब्दार्थ के बल से जहाँ एक शब्द दो अर्थों का वाचक हो वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—पद्मपत्रैरिति—भगवान् सूर्य के किरण, पद्मपत्र मनुष्यो के नेत्र और सारे लोको की कान्ति के साथ अर्थात्—कभी उनका विकाश और कभी संकोच करते हुए जय को प्राप्त होते हैं। यहाँ उन्मीलन और निमीलन का एक क्रिया 'जयन्ति' मे सबन्ध है। हेमचन्द्र ने—सहभाव की उक्ति सहोक्ति कही है, उसका उदाहरण—शब्दे न्याये-इति—हमारे गुरुचरणो की वाणी (भारती) सब शास्त्रो मे अव्याहत रूप से रहती है। सहैवेति—इस पद्य मे सहोक्ति नही है, क्योकि अतिशयोक्ति मूलक ही सहार्थ अलंकारत्व-विधायक है॥

विनोक्ति का लक्षण—सा विनोक्तिरिति—जहाँ एक वस्तु किसी वस्तु के बिना शोभित न हो वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है वह बिना भाव अर्थनिबन्ध नही जानना चाहिये। इसीलिये ऋते नाना आदि के योग मे भी यह अलंकार हो जाता है। उदाहरण—संपदेति—सपत्ति से अथवा अनवद्य (सस्कृत) विद्या से युक्त हो परन्तु बिना विनय के पुरुष शोभित सम्मानित नही होता। इसी प्रकार और भी उदाहरण समझने चाहियें जैसे—नानेति—लौकिक सुख स्त्री के बिना सर्वथा अप्राप्य है। इन तीनो उदाहरणो मे अशोभनता का पुट बिलकुल स्फुट है। यथा रीति—जैसे शील (पातिव्रत्य) बिना कुलाङ्गना, शोभित नही होती और विचार बिना विद्वत्ता, इसी तरह—शिवाराधन बिना पठित विद्या भी शोभा नही पाती। यहा शोभा शब्द का अर्थ अशोभन ही है। केनेति—किस पुरुष ने घोर वन मे वह कौन घोर तप किया होगा, जिसके बिना यह भुमुखी सपूर्ण अर्थों से युक्त होने पर भी विकल है शोभित नहीं।

(निदर्शनालंकारलक्षणम्)

अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमाकृन्निदर्शना।

वस्तुनः सबन्धो न घटमान- सन्नुपमाकल्पको निदर्शनालङ्कारः—

दृशेष्वन्तार्द्राद्वे युच । निदर्शन=दृष्टान्तकरणम् । न च निदर्शनाविषं व्यङ्ग्योपमयैवास्तु निर्वाह इति वाच्यम् । कल्पितौपम्यमूलिकया निदर्शन चमत्कारोदयात् । उदाहरणं साहित्यकौमुद्याम्—

> क्वाहं दैन्यभराक्रान्तः क्वायं श्रीपतिरच्युतः ।
> तृषार्तमुपनद्धोऽयं सङ्गमः सौरसैन्धवः ॥

यद्यपि निराशा-पोषकत्वाद् यमनायमुष्टो गुणः । यदुक्तं वेदे—शत मदीना स्याम शरदः । सुमनसः स्याम इत्यादि । अतएव महात्मभिरप्युक्तम्—नृप यं पश्यति तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः । तथापि भगवदग्रे दैन्यं न दुष्यति । स्वशालीनतापरिहारायमयं तदग्रे दैन्यप्रदर्शनस्य शास्त्रसम्मतत्वात् । अत्र तृषार्तस्य गङ्गासङ्गम इव दीनस्य मे सुधाम्नोऽच्युतसाक्षात्कार इत्युपमा कल्प्यते ।

भट्टोद्भटस्त्वाह—अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन्या यत्र कल्पयेत् । उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना ॥ उदाहरणं मदीये दुर्गाभ्युदये—

> अम्ब सुततुमपि वश्मि करावलम्ब
> पाणौ विधातुमिह कामय इन्दुमम्ब ।
> वाञ्छामि लङ्घयितुमश्मि सुवर्णशैल
> यत्त्वद्गुणं गदितुमुद्यममद्य कुर्वे ॥

वश्मि=इच्छामि न च वशो छान्दसत्वेन तवैव प्रयोगोऽसाधुरिति वाच्यम् । वष्टि भागुरिरल्लोपमिति प्रयोगस्य वशेर्लौकिकत्वेमानात् । अतएव जयाय सेनान्यमुशन्ति देवा इति कालिदासः । कामये इच्छामि कमु कान्तौ कार्तिरिच्छेति कौमुदीकारोक्तेः । अम्बेत्यत्र अम्बार्थनद्योरिति ह्रस्वः । अत्र करावलम्बसागरतरणादिसदृशं त्वद्गुणवर्णनमित्युपमायां पर्यवसानम् । इमानि उदाहरणान्यभवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धनानि सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धनं त्वुदाहरणमिदम्—

> उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन् ।
> शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः ।

अत्र लाघवे सत्युन्नतपदप्राप्तित्व=कारणतावच्छेदक, पतनत्व

कायतावच्छेदकमिति कार्यकारणवस्तुसम्बन्ध समवति ॥

(दृष्टान्तालकारलक्षणम्)

उपमानोपमेयादेर्दृष्टान्त- प्रतिबिम्बनम् ॥१७॥

आदिना सामान्यधर्मादिग्रहणम् । तथाचोपमेयस्य उपमानेन सामान्यधर्मस्य सामान्यधर्मेण विशेषस्य विशेषेण प्रतिबिम्बन समर्थन, दृष्टान्तालकार । अर्थान्तरन्यासे तु सामान्य विशेषेण विशेष सामान्येन समर्थ्यते इति भेद । दृष्ट दर्शन तस्यान्तो निश्चयो यत्रेति दृष्टान्तशब्दव्युत्पत्तिर्भाष्यकैयटोक्ता सैवात्रापि बोध्या दृष्टान्तश्च साधर्म्यवैधर्म्याभ्या द्विधा भवति । साधर्म्येण यथा—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृत ।
अनिच्छयापि सस्पृष्टो दहत्येव हि पावक ॥

हरिर्विष्णु । दुष्टचित्तैरपीत्यपिना ये तु शुद्धचित्ता भगवन्नाम स्मरन्ति तेषा पापानि हरतीति तु किमु वक्तव्यमिति व्यज्यते। तत्र दृष्टान्त —अनिच्छयापीति । अत्र हरिपावकयो पापशरीरयो हरणदहनयोश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावोऽस्ति । वैधर्म्येण यथाऽनर्घराघवे—

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
अपन्थान तु गच्छन्त सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥

न्यायप्रवृत्तस्य—रामादे तिर्यञ्चो वानरादय कुपथे यान्त रावणादिम्, सोदरो विभीषणादिरपि अपन्थ तु कथैव केत्यपिना व्यज्यते । स्पष्टमन्यत् । यथावा मम—

अस्त सते ससृतेर्भीतिर्दृष्टे सति महेश्वरे ।
भवत्यम्बुजवृन्दस्याऽदृष्टे ग्लानिरहस्करे ॥

ससृतिभीतिर्जन्ममरणदु ख, अस्त सते नश्यति, तत्प्राप्तेरेव मोक्षत्वादिति भाव । अत्र ससृतिव्यथा-अस्तत्वग्लानिभवनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभाव । प्रतिवस्तूपमायाम् धर्म प्रतिबिम्बितो न भवतीह तु भवतीति ततो भेद । नचात्रोपमा यथेवादिशब्दाभावात् । नाप्यर्थान्तरन्यास । सामान्यविशेषभावा-

भावात्। 'तृप्तियोग परेणापि महिम्ना न महात्मनाम्। पूर्णश्चन्द्रोदयाकांक्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः ॥ इति माघपद्ये तु नायमलकारः। बिम्बप्रतिबिम्ब भाव एव तस्योत्थानात्। अत एव दृष्टान्तादिशब्दा न प्रयोक्तव्या, पौनरुक्त्यापत्तेरिति दिक् ॥

निदर्शना का लक्षण—अभवन्निति—जहाँ वस्तुओं का परस्पर सबन्ध अभवत् न होकर उपमाकल्पक हो वहाँ निदर्शना अलकार होता है। यद्यपि यहाँ व्यङ्ग्योपमा से निर्वाह हो सकता था तथापि चमत्कार होना सभव नही। उदाहरण—क्वाहमिति—अतीव दीनता से आक्रान्त मैं सुदामा कहाँ, और लक्ष्मीपति भगवान् अच्युत (श्रीकृष्ण) कहाँ, यह तृषार्त (प्यासे) को गङ्गा का संगम हो गया। यद्यपि दीनता करना वेदो मे निन्दित है और शास्त्रों मे, तथापि भगवान् की अधीनता करना दूषित नही। यहाँ प्यासे के लिये गङ्गा सगम (प्राप्ति) के तुल्य मुझ सुदामा के लिये कृष्ण दर्शन हुए हैं।

भट्टोद्भट की निदर्शना का लक्षण—अभवन् इति—जहाँ वस्तु का सबन्ध बाधित हो अथवा अबाधित होकर उपमानोपमेयत्व कल्पित करे वह निदर्शनालकार होता है। उदाहरण—दोर्भ्यामिति—हे अम्ब, मैं हाथों से समुद्र तैरना चाहता हूँ, चन्द्रमा को हाथ मे पकडना चाहता हूँ और सुमेरु का लघन करना चाहता हूँ, जो तुम्हारे गुणो का वर्णन करने मे अपने को समर्थ मानता हूँ। यहाँ हाथों से समुद्र तरण के सदृश तुम्हारे गुणो का वर्णन करना है। अत यहाँ यह सादृश्य कल्पना उपमा मे पर्यवसित है ॥

ये सब उदाहरण अभवद्वस्तु सबन्ध के हैं। सभवद्वस्तु सबन्ध का उदाहरण—उन्नतमिति—जो छोटा (साधारण) पुरुष उच्च पद को प्राप्त हो जाता है, वह शीघ्र ही उस पद से गिर भी जाता है यह कह ही रहे थे तो क्या देखते हैं कि एक पत्थर का टुकडा, उड कर पर्वत शिखर पर जा चढ़ा परन्तु थोडे से वायु चलने से ही नीचे गिर पडा। यहाँ लघु होने पर ऊँचा पद मिलना कारण है गिर पडना कार्य है इसलिये कार्यकारणभाव रूप वस्तु सबन्ध यहाँ विद्यमान है।

दृष्टान्त का लक्षण—उपमान इति—यहाँ आदि पद से सामान्य धर्म का ग्रहण है। जहाँ उपमेय का उपमान से और साधारण धर्म का साधारण धर्म के साथ प्रतिबिम्बन है वहाँ दृष्टान्तालंकार होता है। दृष्टान्त शब्द की व्युत्पत्ति भाष्य और कैयट में लिखी है वही यहाँ समझनी चाहिए दृष्टान्त साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से दो प्रकार का होता है।

साधर्म्य का उदाहरण—हरिरिति—भगवान् विष्णु दुष्ट चित्त से भी स्मरण किये हुए स्मरणकर्ता के पापों को नष्ट कर देते हैं जैसे—अग्नि पर चाहे जानकर हाथ रक्खो चाहे बिना जान रक्खो वह तो अवश्य ही जला देगा। वैधर्म्य का उदाहरण—यान्तीति—जो नीति मार्ग पर चलता है (जैसे श्रीराम) उसकी सहायता पशुपक्षी (वानरादि भी) करते हैं, और जो कुमार्ग से चलता है उसको सगा भाई भी (जैसे रावण को विभीषण) छोड़ देता है। वैधर्म्य का दूसरा उदाहरण—कंसत इति—ईश्वर के साक्षात्कार होने पर जन्म मरण भीति हट जाती है क्योंकि उसका दर्शन ही मोक्ष माना है। यहाँ संसार दुःख का ध्वंस होना और सूर्य के न देखने से कमलों की म्लानि होने में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। प्रतिवस्तूपमालंकार में साधारण धर्म प्रतिबिम्बित नहीं होना और यहाँ होता है यही दोनों में भेद है। यह उपमा भी नहीं क्योंकि यथा इव आदि शब्द यहाँ नहीं हैं जो इस में चाहिये। अर्थान्तरन्यास भी यहाँ नहीं सामान्य विशेष भाव न होने से—[illegible], इस पद्य में दृष्टान्तालंकार नहीं है क्योंकि यहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव नहीं है॥

(समासोक्त्यलंकारनिरूपणम्)

समासोक्तिः प्रतीतिः [illegible] सा ॥

प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्याभेदेन प्रतीतिः [illegible]

एतयोर्द्वयोरस्योक्तिः समासोक्तिः [illegible]। समासेन संक्षेपेणोक्तिः [illegible] यथा राजतरङ्गिण्यां कल्हणस्य—

अप्राप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ।
अनाक्रम्य जगत्सर्वं नो सन्ध्यां भजते रविः ॥

जिगीषा=दिग्विजयेच्छा, मनस्विनो धीरस्य स्त्रीचिन्ता का, सूर्यः सर्वंजगत् अनाक्रम्य अनुल्लंघ्य सन्ध्यां न भजते । अतएव हर्षचरिते हर्ष-प्रतिज्ञा—यावन्मम न सकला जिता-भूमिस्तावन्मे ब्रह्मचर्यमिति । अत्र प्रस्तुत-रविसन्ध्ययोरप्रस्तुत-नायक-नायिका-व्यवहारस्य समारोपः । नच-समासोक्तौ रूपकध्वनिनैव निर्वाहे पृथगलंकारत्वं व्यर्थमिति वाच्यम् । वाच्यार्थबोधकालिक-चमत्कारस्यापह्नोतुमशक्यत्वात् ॥

(परिकरालंकारलक्षणम्)

सोऽलंकारः परिकरः सार्थं यत्र विशेषणम् ॥१८॥

अर्थोऽभिप्रायः तथाच साभिप्रायविशेषणत्वं परिकरालंकारः । परि-करः साभिप्रायशब्दः सोऽस्मिन्नस्तीति मत्वर्थीयोऽच्, भूषणत्वाभावान्न-पुंसकत्वम् । साभिप्रायत्वं—प्रकृतार्थोपपादकचमत्कारिव्यङ्ग्यपरत्वम् । यथा—सम्राट् समुद्रगुप्तस्य कृष्णचरिते—

पुरन्दरबलो विप्रः शूद्रकः शस्त्रशास्त्रवित् ।
वत्सरं स्वं शकान् जित्वा प्रावर्तयत वैक्रमम् ॥

अयं सम्राट् शूद्रकोऽग्निमित्रः ३०४४ कलिवर्षेऽनेन मालवनेत्रा शकान् विजित्य मालवापरनामक विक्रम सं० प्रचालितः । प्रथमो नाटककारः कालिदासोऽस्यैव सभायामासीत् ।

यथा वा मम श्वशुररामायणे—

ससीत लक्ष्मणोपेतं शत्रुघ्नभरतस्तुतम् ।
कौशल्यागर्भसंभूतं रामं दाशरथिं भजे ॥

रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः हलश्चेति घञ् । सीतारामयोर्वेदेऽपि वर्णनमस्ति । 'रामः सीतां विगृह्णातु तां पूषानुयच्छतु' विगृह्णातु स्वीकरोतु-पूषाजनकोऽनुयच्छतु ददात्विति तदर्थः । तत्र पुरन्दरबलादीनि शूद्रक-विशेषणानि, अत्रोदाहरणे सर्वाणि च रामविशेषणानि साभिप्रायाणि ।

लक्षणे विशेषणपदं विशेष्यस्याप्युपलक्षणम्। तेन विशेष्ये साभिप्रायेऽपि परिकर एव, यथा—

चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः।

अत्र चतुर्भुज इति विशेष्यं पुरुषार्थचतुष्टयदानसामर्थ्याभिप्रायगर्भम् ॥

समासोक्ति का लक्षण—समासोक्तिरिति—जहा प्रकृत (प्रस्तुत) में अप्रकृत (अप्रस्तुत) का व्यवहार आरोपित किया जाय वहा समासोक्ति अलकार होता है (समान से अर्थद्वय का कथन समासोक्ति की व्युत्पत्ति है। उदाहरण—असमाप्तेति—जब तक विजय करके समस्त शत्रुओं को न जीत लिया जाय तब तक स्त्री की चिन्ता क्या नही करनी चाहिये। जैसे—भगवान् सूर्य जब तक सम्पूर्ण जगत् को आक्रान्त नहीं कर लेता तब तक सन्ध्या को नहीं होने देता। कहीं पर 'असमाप्तिनविध' भी पाठ है। यहाँ प्रस्तुत रवि (सूर्य) और सन्ध्या में अप्रस्तुत नायक नायिका व्यवहार का आरोप है॥

परिकरालकार का लक्षण—सोऽलकार इति—जहा सारे विशेषण साभिप्राय हों वहा परिकरालकार होता है। परिकर शब्द में भूपणत्व का अभाव होने से मुट् का आगम नहीं हुआ। प्रस्तुत अर्थ का उपपादन करने वाला चमत्कारी व्यङ्ग्य साभिप्राय होता है। उदाहरण—पुरन्दर इति—इन्द्र के समान बलशाली, विप्रजातीय, शस्त्र शास्त्र का ज्ञाता, शूद्रक राजा था। उसने शत्रुओं को हराकर मालवा पर नामक विक्रम संवत् चलाया। दूसरा उदाहरण—सीतेति—सीता से युक्त, लक्ष्मण के सहित, शत्रुघ्न और भरत से अभिष्टुत, कौशल्या के गर्भ से उत्पन्न और दशरथ के पुत्र श्रीराम को मैं बारबार प्रणाम करता हूँ॥ यहाँ सारे विशेषण साभिप्राय हैं। लक्षण में विशेषणपद विशेष्य का भी उपलक्षण है। अतः विशेष्य के साभिप्राय होने पर भी यही अलकार होता है। कुवलयानन्दादि में कहा हुआ परिकराङ्कुर पृथक् अलकार मानना व्यर्थ है। उसका उदाहरण 'चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः' है, इसमें चतुर्भुज विशेष्य साभिप्राय हैं पुरुषार्थ चतुष्टयदान से।

(अप्रस्तुतप्रशंसालंकारलक्षणम्)

अप्रस्तुतप्रशंसेयं यत्र सा प्रस्तुताश्रया ।

अप्रस्तुतस्य प्रशंसेति न तदर्थः । अपितु अप्रस्तुतात्प्रस्तुतप्रतीतिरप्रस्तुतप्रशंसालंकारः । यथा—

मित्रेण मित्रवर्गेण बहुलेन विरोधिना ।
दशपञ्चदिने वृद्धिः चन्द्र ते नियतः क्षयः ॥

अत्र चन्द्रादप्रस्तुतात्कश्चित्प्रस्तुतः प्रतीयते । यथा वा शंकरदिग्विजये

'श्रुतिदूषक-निर्ह्रादैः पिक काककुलैः सह ।
मलिनैश्चेन्न सङ्गस्ते श्लाघनीयस्तदा भवेः ॥

अत्र पिकादप्रस्तुतात्प्रस्तुतः कश्चिद्राजा प्रतीयते ।

(व्याजस्तुत्यलंकारलक्षणम्)

व्याजस्तुतिर्यत्र निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दने ॥१६॥

यत्र स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा, निन्दापर्यवसायिनी स्तुतिश्च सा व्याजस्तुतिरलंकारः । व्याजेन स्तुतिर्वा व्याजरूपा स्तुतिर्व्याजस्तुतिरिति व्युत्पत्तेः । निन्दया स्तुतिर्यथा मम—

त्वत्पादपद्मं भजतां लाभो दूरेऽस्तु शंकर ।
प्राक्तनस्यापि देहस्य हानिस्तव कृपेदृशी ॥

भजतां सेवमानानाम्, गौरवप्रयुक्तप्रीत्यर्थविच्छिन्नधिया भजनमाराधनं च । लाभो नूतनवस्तुप्राप्तिस्तु दूरापास्त । प्राक्तनस्य=वर्तमानस्य, देहस्यापि हानिरत्यन्तविमोक्षः । तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग इति न्यायसूत्रात् । अपि च मद्गुणो अभावं बादरिराहेति वेदान्तसूत्रे, तस्माद्भाव शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे इति शारीरकभाष्याच्च ।

अत्र निन्दया शिवसेवको लिङ्गशरीरपर्यन्तं मायामलं निर्धूय शिवसायुज्यं लभत इति स्तुतिर्व्यज्यते । शिवसायुज्ये सति न पुनरावृत्तिः संसारधर्मेषु 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुत्योपपद्यते । स्तुत्या निन्दा यथा मम—

नैव यस्य प्रशस्यस्त्वं मौनव्रतिशिरोमणिः ।
सुलभाम हरेर्नाम नोच्चारयसि कर्हिचित् ॥

उच्चारणं कीर्तनम्, तच्च मत्प्रियं यथा—हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

अत्र मौनव्रतित्व-स्तुत्या त्वमतिपामरो भगवन्नामापि कदापि न गृह्णासि ततो नरकं यास्यसीति निन्दा व्यज्यते ।

अप्रस्तुत प्रशंसा का लक्षण—अप्रस्तुतेति—जहां अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति हो वहां अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है । प्रशंसा शब्द यहां स्तुत्यर्थक नहीं है । चिकनालस्य में अव्याप्ति होने के कारण । अप्रस्तुतपद से तात्पर्य विषयीभूत अर्थ से अन्य अर्थ ग्रहण करना है । अतः कुवलयानन्द में उक्त प्रस्तुताङ्कुर अलंकार पृथक् मानना व्यर्थ है । उसके विषय में यही अलंकार है । उदाहरण—मित्रेणेति—हे चन्द्र, मित्र (सूर्य) से और साथी ग्रहों से बहुल (कृष्णपक्ष) से विरोध रखने वाले तेरी दश-पांच (पन्द्रह) दिन की यह वृद्धि है, फिर निश्चित क्षय, यहां अप्रस्तुत चन्द्र द्वारा किसी प्रस्तुत (शत्रु) को समझाया है । दूसरा उदाहरण—श्लाघ्योऽसि—हे कोकिल, तथा हे राजन्, तू श्रुतिदूषक (कर्णकटु) और मलिन इन कौओं को पक्ष में—वेदनिन्दक और मलधारियों को हटा देने से श्लाघनीय होगा ।

व्याजस्तुति का लक्षण—व्याजस्तुतिरिति—जहां निन्दा से स्तुति गम्य हो और स्तुति से निन्दा गम्य हो वहां व्याज-स्तुति अलंकार होता है । व्याज स्तुति पद के दो अर्थ हैं—एक व्याजेन स्तुति निन्दा के बहाने स्तुति करना, और दूसरा व्याजरूपा स्तुति, स्तुति का बहानामात्र । पहले अर्थ का उदाहरण त्वत्पादपद्ममिति—हे शंकर, तुम्हारे चरणों की सेवा करने वाले को लाभ तो दूर रहा बल्कि वर्तमान शरीर की भी हानि हो जाती है । यहां हानि का अर्थ है अत्यन्त मोक्ष, वह शंकर की कृपा से ही लभ्य है । मोक्ष में शरीर और इन्द्रियों का अभाव हो जाता है ।

यहां निन्दा के द्वारा यह स्तुति निकलती है कि शिव की आराधना

लकार होता है। विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण—बबन्धेति—महान् पुरुषो के लिये कोई बात दुष्कर नही है। भगवान् राम ने समुद्र का पुल बँधवा दिया, श्री हनुमान् जी ने उसका लघन किया और अगस्त्य ने उसको पी लिया। यहाँ 'दुष्कर कि' यह सामान्य बबन्धेत्यादि वातो से समर्थित किया गया। विशेष का सामान्य से समर्थन का उदाहरण—तव सम्मतिमिति—हे नल, तुम्हारी सम्मति लेने के लिये ही यह निवेदन किया है, श्रेष्ठ पुरुष कार्य कर दिया करते हैं कहलवाया नही करते।

उपकारमिति—श्रेष्ठ गुणवान् चाहे विपत्ति मे भी हो तथापि उपकार ही करता है, जैसे पारा चाहे मूर्च्छित हो चाहे मृत, पूरा-पूरा गुण करने वाला होता है। इस पद्य मे भी अर्थान्तरन्यास ही अलकार है, इसके लिये रसगङ्गाधरकार ने एक उदाहरण नामक अलकार की कल्पना की वह त्याज्य है। प्राचीनो ने उदाहरण को उपमा से ही गतार्थ माना है। दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा मे विशेष से विशेष का समर्थन होता है। काव्यलिङ्ग मे सामान्य विशेष भाव होता ही नही अत उन सब से इसका भेद है।

विरोध का लक्षण—यत्राभास इति—जहाँ विरोध का आभास हो वह विरोधालकार होता है। विरोध का आभास निवृत्त होता हुआ भी चमत्कार का कारण होता है। उदाहरण—अजस्यैति—वह ईश्वर अजन्मा होने पर भी 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥' इस अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार जन्म लेता है। निरीह होने पर भी 'येहि धर्मस्य गोप्तारस्ते वध्या मम सर्वदा' प्रतिज्ञा के अनुसार शत्रुओ को मारता है, चैतन्य स्वरूप होने पर भी प्रलय समय में शेषशायी होता है अत ईश्वर के स्वरूप का किसी को भी यथार्थ ज्ञान नही है। इसी वात का समर्थन श्रुति ने किया है। शकराचार्य जी ने भी यही माना है कि ईश्वर के स्वरूपाज्ञान से जीव का बध और ज्ञान से मोक्ष होता है। पहले उदाहरण मे—अज आदि का जन्म

ग्रहणादि क्रियाओं से विरोध है और दूसरे में अपाणिपादादि का जवनादि क्रिया से विरोध है परन्तु श्रुति से ज्ञात है कि ईश्वर के दोनों रूप हैं इसलिये वह विरोध निवृत्त हो जाता है। उदाहरण—सतीत्वमिति—यहाँ पूज्य माता जी में दशपुत्रीत्वादि धर्म न होने से सती आदि नाम असुपपन्न दीखते हैं, परन्तु पतिव्रता शृङ्खलधर्मा विदुषी आदि अर्थ होने से विरोध हट जाता है। विरोधाभास के अन्य भेद और उदाहरण काव्यप्रकाशादि में देखने चाहिए।

(आक्षेपालंकारलक्षणम्)

स्वेनोक्तस्य निषेधो यः स आक्षेपो विचारणे।

स्वयमुक्तस्य विचारदशायां प्रतिषेध आक्षेपालंकारः। यथा मम—

रे मूढ तव दौरात्म्यं वक्ष्यामि विदुषां पुरः।
कृतं वा कृतया पापिन् कथया हृतयापि [illegible] ॥

दौरात्म्यं=दुष्टताम् गुणवचनत्वात्ष्यञ्। तव हृतया कथयापि कृतया कृतमलं 'कथापि खलु पापानाम् अलमश्रेयसे यत' इति माघोक्तेः। अत्र मूढस्य दौरात्म्यातिशयो वक्ष्यमाणः किमपि विचार्य निषिद्धः। कश्चित्तु निषेधमात्रमाक्षेप इत्याह। चमत्कारजनकत्वमलंकार-सामान्यलक्षणं प्राप्तमेव यथा नागानन्दे—न खलु न खलु मुग्धे साहसं कार्यमीदृक् इत्यादौ।

(कारणमालालंकारलक्षणम्)

कारणमालेकत्र पूर्वं कारणं क्व च कार्यकम् ॥२१॥

एकत्र पूर्वं कारणं परं कार्यम्, क्वचित्कार्यं पूर्वं कारणं परमिति द्विधा कारणमालालंकारः। द्वयोरुदाहरणम्—

पुण्येन लभ्यते लक्ष्मीः लक्ष्म्या दानं ततो यशः।
जायते नरकः पापात् पापं दुःसङ्गतो भवेत् ॥

पुण्येनेति हेतौ तृतीया। फलमत्र हेतुः। तयोश्चोपकार्योपकारकभावः। उपकार्योपकारकत्वं चेह साध्यसाधनत्वम्। पूर्वार्धे प्रथमं पुण्यादि-कारणस्य ततः कार्यस्य, उत्तरार्धे पूर्वं नरकादि कार्यस्य ततः कारणस्य निर्देशः।

अत्र यद्यपि कार्यमापि माला वर्तते, तथापि कारणगुणवर्णने कवि-संरम्भात्सवोक्ति ।

आक्षेप का लक्षण—स्वेनेति—स्वयं कही हुई बात का कुछ विचार करने पर जो निषेध हो वह आक्षेपालंकार होता है। उदाहरण—रे मूढ—रे मूर्ख, तेरी इस दुष्टता का वर्णन मैं भले आदमियो के आगे करूगा, अथवा रहने दो बुरो की चर्चा करना भी महापाप है। जैसा कि माघ ने लिखा है। यहा मूर्ख की दुष्टता कहनी थी परन्तु कुछ विचार कर नही कही। कोई विद्वान् निषेधमात्र को आक्षेपालंकार मानता है। उदाहरण—म खलु इति—हे मलयवति, मरने का साहस मत कर मत कर। कारणमाला का लक्षण—कारणमालेवमेति—कही पर पूर्व कारण का निर्देश पश्चात्कार्य का और कही पर पहले कार्य का पीछे कारण का, यह दो प्रकार की कारण-माला होती है। दोनो का उदाहरण क्रम से पुण्येनेति—पुण्य से लक्ष्मी प्राप्त होती है लक्ष्मी से दान, दान से कीर्ति। नरक पाप से और पाप कुसङ्ग से।

यहा पूर्वार्द्ध म पुण्यादि कारण का पहले और लक्ष्म्यादि कार्य का पीछे निर्देश किया गया है। और उत्तरार्ध मे नरकादि कार्य का पहले पाप का पीछे। यद्यपि यहा कार्यमाला भी है तथापि कवि का अभिप्राय (प्रेम) कारणमाला मे विशेष है अत उसी से नाम रक्खा गया।

(एकावल्यलंकारलक्षणम्)

सैकावली परं यत्र स्थाप्यतेऽपोह्यते च प्राक् ।

अत्र पूर्वं प्रति परस्य विधिर्वा निषेधो वा स द्विधा एकावल्यलंकारः। एकावली हारभेदस्तत्तुल्यत्वादस्यालंकारे लक्षणा। यथा रम्भाशुकसंवादे—

गेहे गेहे जङ्गमा हेमवल्ली वल्ल्या वल्ल्यां पार्वणं चन्द्रबिम्बम्।
बिम्बे बिम्बे दृश्यते मीनयुग्मं युग्मे युग्मे पञ्चबाण-प्रचारः॥

अत्र हेमवल्ल्यादि पदानां कामिनीत्वादिकं लक्ष्यतावच्छेदकम्। पार्वणं चन्द्रबिम्बं मुखम्। मीनयुग्मं नयनद्वयम्। पञ्चबाणप्रचारः हावभावादिः। अयं चातिशयोक्त्यनुप्राणितोऽलंकारः। ध्वनिकृताप्युक्तम्—अतिशयोक्ति-गर्भतैव प्रायोऽलंकारेषु चमत्कारिणीति। यथा वा हितोपदेशे—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मं स नो यत्र न सत्यमस्ति सत्यं न तद् यच्छलमभ्युपैति ॥

अत्र सभा वृद्धरहिता न ते धर्मरहितानेत्येवं रीत्या निषेधोऽभ्यधायि। नचात्र वृद्धान् विना सभा नरमणीयेति विनोक्तिध्वनिरेवायमिति वाच्यम् । वाच्यार्थकृतस्य चमत्कारस्यानपलपनीयत्वात् ॥

(स्वभावोक्त्यलंकारलक्षणम्)

. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः चेष्टाऽसाधारणी मता ॥२२॥

बालकादीनामसाधारणचेष्टावर्णनं स्वभावोक्तिरलंकारः। डिम्भादेरित्यादिपदेन पश्वादि-परिग्रहः । उदाहरणं मम ज्येष्ठभ्रातुरुपाध्याय-मूलचन्द्रस्य ।

चरणाब्जं कराब्जेन मुखाब्जे विनिवेशयन् ।
वटपत्रपुटे तिष्ठन् बालकृष्णः प्रसीदतु ॥

प्रसीदत्विति प्रार्थनाया लोट्। प्रार्थना चेष्टसाधनाय सर्वे स्वेष्टसाधनाय प्रार्थयन्ते' इति हेतुमति चेति सूत्रभाष्योक्तेः ।

असाधारणचेष्टावर्णनमिदं भगवद्बालकृष्णस्य, साधारणचेष्टावर्णनरूप तु नालंकाररूपम् । यथा कण्ठाभरणे—

गौरपत्यं बलीवर्दो घासमत्ति मुखेन सः ।
मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन अपानेन तु गोमयम् ॥

अत्र घासभक्षण-मूत्रत्यागादिषु न काचन विच्छित्तिः ।

एकावली का लक्षण—संकेति—जहां पूर्व में प्रति पर की विधि (स्थापना) अथवा अपोहन (निषेध) हो वह दो तरह का एकावली अलंकार होता है । विधि का उदाहरण—गेहे गेहे इति—घर-घर में स्त्रियां हैं उनमें मुख, मुख में नेत्र, नेत्रों में कटाक्ष विशेष । यहां पूर्व-पूर्व के प्रति पर का विधान है ॥

दूसरा उदाहरण—न सा सभेति—वह सभा नहीं जिसमें वृद्ध न बैठे हों, वे वृद्ध नहीं जो धर्माधर्म का निर्णय नहीं करते । वह धर्म नहीं जहां

सत्य का अपलाप है, वह सत्य नही जिसमे भय हो। अन्यत्र भी लिखा है—'सत्ये नास्ति भय क्वचित्'। शका—यहा विनोक्ति ध्वनि क्यो नहीं—समाधान—एकावलीनिष्ठ वाच्यार्थ का चमत्कार अधिक होने से।

स्वभावोक्ति का लक्षण—स्वभावोक्तिरिति—बच्चे आदिकों की चेष्टा का असाधारण वर्णन स्वभावोक्ति अलकार होता है। आदि से पश्वादि की चेष्टा। उदाहरण—करणाब्जमिति—वट के पुटक पर बैठे हुए बाल-कृष्ण प्रसन्न हो, मुखकमल मे करकमल से चरणकमल को रखकर चूमते हुए। असाधारण चेष्टा का वर्णन ही अलकारत्व को प्राप्त होता है। साधारण चेष्टा का वर्णन नहीं जैसे—गोरपत्यमिति—यह गौ का पुत्र बैल, मुंह से घास खाता है शिश्न से मूतता है और गुदा से गोबर करता है।

(छलोक्त्यलकारलक्षणम्)

छलोक्तिर्निह्नवो भूयः छलेनोद्भिन्नवस्तुनः।

गोप्य वस्तु केनापि हेतुना प्रतीत तस्य छलेनैव पुनर्गोपन छलोक्तिरलकारः। छलेनोक्ति छलोक्तिरिति व्युत्पत्ते। यथा—

अहो शैत्यस्य महिमा, हिमानिल, तवेदृश।
वाधते नव निह्नोत् कुतो येनाधरव्रण॥

अत्र कान्त-सङ्गमहेतुकोऽधरव्रणो हिमानलशैत्य-हेतुकत्व छद्मना गोप्यते। नचा सात्रपन्हुति प्रकृताप्रकृतयो साम्ये तस्स्वीकारात्॥

(परिवृत्यलकारलक्षणम्)

परिवृत्तिः क्रयो द्वाभ्या द्वयोर्न्यूनातिरिक्तयोः॥२३॥

न्यूनाधिकयोर्द्वयोर्द्वाभ्या सह परस्पर क्रयः परिवृत्तिरलकार। यथा मम छायापद्ये—

जटायुर्जर्जर देह दत्वाप विमल यश.।
सीतायै हृदय स्व च मृत्यु नक्तञ्चराधिप॥

जटायू रामायणे प्रसिद्ध.। जर्जरं जराजीर्णम्, 'दत्त्वापसीतायै' इति देहली-दीपकन्यायेन सम्बध्यते। अत्र पूर्वार्धे यूनेनाधिकस्य, उत्तरार्धेऽधिकेन न्यूनस्य परिवृत्तिः। क्वचित्तुल्ययोरपि परिवृत्तिर्भवति। यथा—अङ्गानि दत्त्वा हेमाङ्गि-प्राणान् क्रीणासि त्वं नृणाम्। इत्यादौ, दानादान-व्यवहारश्चात्र कविकल्पित एव न वास्तवः। तेन क्रीणन्ति यत्र मुक्ताभिर्बदराण्यपि बालिका। इत्यत्र नायमलङ्कारः। चमत्कारजनकत्वमन्तरेणालंकारत्वायोगात्। चमत्कारएवालङ्कार जीवातुः। चमत्कारः सहृदयानन्दः।

छलोक्ति (व्याजोक्ति) का लक्षण—छलोक्तिरिति—किसी प्रकट हुई वस्तु का किसी बहाने से छिपाना छलोक्ति अलंकार होता है। उदाहरण—अहो शैत्यस्येति—हे हिमवायो, तेरे शैत्य (ठण्ढेपन) की विचित्र महिमा है, तेरे से किया हुआ अधरोष्ठव्रण छिपाया नहीं जा सकता। यहां नायक-कृत अधरव्रण हिमानिल के शैत्यकारण से बतलाया गया है अतः यहां छलोक्ति अलंकार का चमत्कार स्पष्टतया दृष्ट है॥

परिवृत्ति अलंकार का लक्षण—परिवृत्तिरिति—न्यून, अधिक और समान के साथ परस्पर में क्रय (बदला) करने से परिवृत्ति अलंकार होता है। क्रम से उदाहरण—जटायुरिति—जटायु ने सीताजी के लिये अपना जराजीर्ण देह देकर निर्मल कीर्ति प्राप्त की और रावण ने उसी सीता के लिये अपना हृदय देकर मृत्यु को प्राप्त किया। यहां पूर्वार्ध में न्यून से अधिक वस्तु प्राप्त की और उत्तरार्ध में अधिक से न्यून, तुल्य परिवृत्ति का उदाहरण—अङ्गानीति—हे सुन्दर अङ्गवाली, तू ने अपने अङ्गों के बदले लोगों के प्राण ले लिए हैं। क्रीणन्ति—में यह अलंकार नहीं क्योंकि यहां चमत्कार नहीं। चमत्कार ही अलंकार का प्राण है।

(पर्यायोक्तालंकारलक्षणम्)

पर्यायोक्तं यत्र गम्यवचो वैचित्र्यमावहेत्।

यत्र गम्य वचो वैचित्र्यं व्यङ्ग्यतावच्छेदकातिरिक्त-प्रकारमाप्यर्पितं तत्पर्यायोक्तमलंकारः। पर्यायेण-प्रकारान्तरेणोक्तमिति व्युत्पत्तेः। यतो हि

नहि पर्यायोक्ते व्यङ्ग्यसौन्दर्यकृतो विच्छित्ति विशेषोऽपि तु प्रकारान्तराभिधानकृत इति। यथा मेण्ठस्य हयग्रीववधनाटके—

हयग्रीव समालोक्य सहजापि स्थितिर्जहे।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः॥

अत्रैरावणशक्रौ मदमानमुक्तौ जाताविति व्यङ्ग्यार्थ एव प्रकारान्तरेणोक्तः। इह व्यङ्ग्यमपूर्व वाच्यादचारुचेति न ध्वनिव्यवहारः। प्राञ्चस्तु सर्वमपि व्यङ्ग्यप्रपञ्च पर्यायोक्तकुक्षिनिक्षिप्त मन्यन्ते॥

(विभावनालङ्कारलक्षणम्)

विनैव कारणं कार्योत्पत्तिर्यत्सा विभावना ॥२४॥

विनैव कारणं=कारणतावच्छेदकावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावेऽपि कार्योत्पत्तिर्विभावनालङ्कारः। विभाव्यते विचार्यते कारणमस्यामितिविभावनेतिव्युत्पत्तेः। सा च द्विविधा उक्तनिमित्तानुक्तनिमित्ता च। उक्तनिमित्ता यथा मनुस्मृतौ—

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

वेदानिति बहुवचनं वेदाङ्गव्याकरणादीनामुपलक्षणम्। अन्यत्र=अंग्रेजी भाषादौ। शूद्रत्वमिति। शूद्रतुल्यत्वम्। लक्ष्यतावच्छेदकमश्लाघ्यजीवित्वम्। शूद्रा द्विविधा स्पृश्या नापितादयोऽस्पृश्याश्चर्मकारादयोऽधिकं शूद्राणामनिरवसितानामिति सूत्रभाष्ये। वेदाध्ययनविधिश्चार्थावबोधपर्यन्तः। षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेतिश्रुतेः। अत्र शूद्राच्छूद्रायां जन्मकारणाभावेऽपि शूद्रत्वोक्त्या विभावनाचमत्कारः परिस्फुटः। अनुक्ता यथा—मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः। उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः॥ अत्र मैत्र्यादिकारणाभावेऽपि मित्रोदासीनशत्रुत्वरूपकार्योत्पत्तिरिति विभावना॥

(विशेषोक्त्यलङ्कारलक्षणम्)

कारणे कार्यकृन्नोचेद् विशेषोक्तिर्निगद्यते ॥२४॥

कारणे सत्यपि कार्यानुक्तिर्विशेषोक्तिरलङ्कारः। सापि द्विविधा

अनुक्तनिमित्ता उक्तनिमित्ता च अनुक्तनिमित्ता यथा देवीभागवते—

प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे मनसः शोकमोहने ।

जन्ममृत्यू च देहस्य षडूर्मिरहितः शिवः ॥

अत्र प्राणादिकारणसद्भावेऽपि क्षुत्पिपासादिकार्यस्य शिवे अनुक्तं विशेषोक्तिरलङ्कारः । न च विभावनाविशेषोक्त्योर्न किंचित्पार्थक्यमिति वाच्यम् । एकत्र व्यतिरेकस्फुरणनिबन्धनचमत्कारस्य परत्रान्वयस्फुरण-चमत्कारस्य दुरपह्नवत्वात् ॥ उक्तनिमित्ता यथा नैषधे—'स भिन्नमर्मापि तटान्तिकाकुभिः स्वधूतधर्मान्निविरन्तुमैहत ॥' अत्र द्रुतत्वाद्विरामस्य तटान्तिकाद्विकारणसत्त्वेऽपि तदनुक्तं विशेषोक्तिः ।

पर्यायोक्त का लक्षण—पर्यायोक्तमिति—जहां गम्य वचन विचित्र प्रकार को ग्रहण करे वह पर्यायोक्त अलकार होता है। पर्यायोक्त में व्यङ्ग्य सौन्दर्यकृत चमत्कार नहीं होता । अपितु प्रकारान्तर से कहने का चमत्कार होता है। उदाहरण—हयग्रीवमिति—हयग्रीव को देखकर ऐरावण के मुख मे मद ने और इन्द्र के हृदय में मान ने अपनी स्वाभाविक स्थिति त्याग दी । यहा ऐरावण (इन्द्र का हाथी) और इन्द्र दोनों मद और मान से रहित हो गये । यह व्यङ्ग्यार्थ ही प्रकारान्तर से कहा गया है अप्रधान होने से ध्वनि न रह सका। प्राचीन आलङ्कारिक तो सारे ही व्यङ्ग्य-प्रपञ्च को पर्यायोक्त मे छिपा मानते हैं ॥

विनैवेति—जहाँ कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो वहाँ विभावना अलकार होता है । अर्थात्—कारणता का जो अवच्छेदक तदवच्छिन्न प्रतियोगिताक पदार्थ अभाव मे भी कार्य की उत्पत्ति होना विभावना है। उदाहरण—योऽनधीति—जो द्विजन्मा ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के घर जन्म लेकर भी वेदों का पठन-पाठन नहीं करता वह शूद्र हो जाता है । शूद्र दो प्रकार के होते हैं स्पृश्य (नापितादि) और अस्पृश्य (चर्मकारादि) यहाँ शूद्र से शूद्रा मे जन्म होने का कारण न होने पर भी शूद्र कहा गया है ॥

विशेषोक्ति का लक्षण—कारणमिति—कारण के रहते हुए भी

कार्य (फल) के न होने पर विशेषोक्ति अलंकार होता है। उदाहरण—प्राणस्येति—जहाँ प्राण हैं वहाँ क्षुधा और प्यास जरूर है जहाँ मन है वहाँ शोक और मोह जरूर है जहाँ शरीर है वहाँ जन्म और मृत्यु जरूर है परन्तु भगवान् शिव में प्राणादि हैं क्षुधादि नहीं। सभिन्नेति—वह नल दमयन्ती की पीड़ा से दुःखित हुआ हुआ भी अपने दूत धर्म से नहीं हटा। यद्यपि विभावना और विशेषोक्ति में स्फुट भेद प्रतीत नहीं होता तथापि एक में व्यतिरेक का चमत्कार है दूसरे में अन्वय का यही भेद है।

(असंगत्यलंकारलक्षणम्)

कार्यस्य कारणस्याथोऽसंगतिर्भिन्नदेशता ॥

विरोधे भिन्नदेशकयोरेकदेशकत्वं चमत्करोति। अत्र त्वेकदेशकयोर्भिन्नदेशकत्वं चमत्कारकारणम्। यथा—

अहो खलभुजङ्गस्य विचित्रोऽयं वधक्रमः।
अन्यस्य दशति श्रोत्रमन्यः प्राणैर्वियुज्यते ॥

खल एव भुजङ्ग इति मयूरव्यंसकादिसमासो रूपकं च। जनेर्डम्प्रकरणगमेरचीति भाष्योक्तो डः। दशतीति। दंशनं च हिंसाहेतुको दन्तकरणकः संयोगानुकूलो व्यापारः। अत्र व्यापारहेतुवदन्यव्यापारमुख्यविशेष्यकएव शाब्दबोधो भवति न तु न्यायनय इव कर्तृमुख्यविशेष्यक. साहित्य शास्त्रस्य व्याकरणपरिशिष्टत्वात्। अत्रार्थविशेषप्रतिपत्तये श्रोत्रदंशनप्राणवियोगयोः कार्यकारणयोर्भिन्ननिष्ठत्वेनोपनिबन्धनादसंगतित्वम्। अतिशयोक्तौ कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययोऽस्यां तु कार्यकारणयोर्व्यधिकरणत्वमिति भेदः ॥

(पर्यायालंकारलक्षणम्)

पर्यायो बहुधा ह्येकं भवति क्रियतेऽथवा ॥२५॥

यत्रैकं वस्तु बहुधानेकत्र भवति वा क्रियते वा स पर्यायालंकारः। यथा पद्मगुप्तस्य नवसाहसाङ्कचरिते—

बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत ।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि लक्ष्यते ॥

अनेक एव राग. क्रमेणानेकत्र प्रोष्ठे हृदये च भवति । रागस्य चाधार-भेदाद्देश्येक्त्वयाध्यवसितत्वादेकत्वम् । यथावा मदीये दुर्गाभ्युदये—

प्राश्चर्यमेतदति मे हृदये त्वमेका वास करोष्यसुरनिर्जरयोषिता यत् ।
दु.ख सुखं च जनयन्त्यतिकौतुकं च शौर्यादतीव विनयादथ रम्यतायाः ॥

अथैकस्य देश्यनेकेषा हृदये निवास करोतीति भवति पर्यायः । यस्त्वत्र रसगङ्गाधरकृता नायमलकार । एकस्यान्यनाशोत्तरमपरसबन्धे सत्येव पर्यायपदस्य लोके प्रसिद्धिरित्यमाणि तत्र रमणीयतामावहति । काव्य-सरणी हाददसाहृदयमात्रेण लौकिकार्यविलक्षणात् । वाच्यकृतस्य चम-त्कारस्यानापह्नोतुमशक्यत्वाच्चेतरलं परकीयदूषणपर्यवेक्षणया ।

असगति का लक्षण—कार्यस्येति—जहाँ कार्य और कारण भिन्न-भिन्न देश मे हों वहाँ असगति-अलकार होता है। क्योकि यहाँ एक-देशियो का भिनदेशीय वर्णन ही चमत्कार-कारण है। उदाहरण—अहो खलेति—आश्चर्य है कि इन खल दुष्टरूपी भुजङ्ग (सर्प) के डसने का प्रकार कितना विचित्र है, एक पुरुष के श्रोत्र (कान) को छूता है दूसरा प्राणो से वियुक्त हो जाता है। यहाँ अर्थ विशेष ज्ञान के लिये श्रोत्र का दशन (स्पर्श) और प्राण-वियोग रूप कार्य-कारण का भिन्न देश मे स्थिति का वर्णन होन से असगति अलकार-सगत है। अतिशयोक्ति अलकार मे कार्य और कारण का पौर्वापर्य (पहले पीछे) का विपर्यय (उलटापलट) होता है, परन्तु यहाँ कार्य और कारण का व्यधिकरणत्व (भिन्नभिन्नदशीयत्व) देखा जाता है, यही दोनो म भेद है जो पृथक्-पृथक्ता सिद्ध करता है॥

पर्याय का लक्षण—पर्याय इति—एक वस्तु अनेकों मे हो या की जाय तो पर्याय अलकार होता है। क्रम से उदाहरण—बिम्बोष्ठ इति—हे सुभगे ! यह राग (लालिमा) पहले तेरे केवल बिम्बोष्ठ में ही था परन्तु अब हृदय मे भी देखी जाती है। यहाँ एक ही राग क्रम से अनेक जगह

हो गया। दूसरा उदाहरण—आश्चर्यमिति—हे देवि, मेरे हृदय में यह बड़ा आश्चर्य है कि तुम एक होती हुई भी तीन जगह निवास करती हो, शौर्य से असुरों को दुःख देती हुई उनके हृदय में विनय से सुख देती हुई देवताओं के हृदय में और सौन्दर्य से आश्चर्य कराती हुई स्त्रियों के हृदय में ॥

यहाँ एक ही देवी ने अनेकों के हृदय में निवास किया अतः पर्याया-लङ्कार है। रसगङ्गाधरकार ने इसको अलङ्कार नहीं माना लोकदृष्टि से, परन्तु वह ठीक नहीं क्योंकि काव्यसरणि में लौकिक अर्थ की विवक्षा नहीं होती और वाक्यार्थकृत चमत्कार भी यहाँ परिस्फुट है।

(विषमालङ्कारलक्षणम्)

विषमः स यदैकस्य विरूपद्वयवर्णनम् ।

परस्परमानुरूप्यरहितयोर्द्वयोर्यत्र वर्णनं स विषमालंकारः। विषमताख्यो वाक्यनिष्ठोऽप्यलंकारविशेषत्वे पुल्लिङ्गोऽपि। गुणवचनानामा-श्रयतो लिङ्गवचनानीति भाष्योक्तेः। यथा मम पुराभ्युदये—

अतिकुसुमविशिखबाणा यदिह जगति सम्भ्रमं प्रति ।
क्व स वं रणधुर्मी भटः क्वच ॥ नमयत्तवार्दितिः ॥

अत्र देव्याः, सत्रभ्रुं पुष्पम्, स प्रसिद्ध इत्यर्थः। स च सर्वनाम्नोऽत्र शक्तिरेवेति वाच्यम्। बुद्धिस्थप्रकारकबोधजनकत्वेऽपि प्रसिद्धप्रकारक-बोधजनकत्वे तेनैव तात्पर्यपादात्। एतेनोऽपि तत्संबन्धेऽपि प्रसाद्गिला-गुणपार्श्वविषयः तदन्ययोगव्यवच्छेदोपादानं सारेऽभाने। क्वचित्—यद्वयोरपि तद्वदृशम्। यथा तत्रैव, मधुमूर्छन कृष्णचरिते—

यास्तुमो भवति यः कविताको न केवलम्।
कारुधीरताऽऽसोऽमरसाऽऽवम्या प्रसादतः ॥

क्वचिद्द्वयो· शाब्दाद यथाऽभिव्यञ्जनाय कृष्णचरिते—

सा कार्यङ्गिकुसुमाममन्दस्य का कविता भवति दासतागुरवाय ॥

क्वचिद्द्वयोरप्यार्थत्वेन—यथा मम त्रिपुर्वः क्वचमन्दायः तत्रैव

भारतस्य कः। रक्षिष्यति कृपालोकः सर्वरक्षक ईश्वरः ॥ अत्र य ईश्वरः सर्वरक्षकः स एव भारतीयसंस्कृतिं रक्षिष्यतीति बुध्यते। उदाहरणे क शब्दद्वयं देवीशुंभयो रणे महद्वैषम्यं सूचयतीति विषमालंकारः। एवं क सूत्रपः क्व वा मुक्ता इत्यादावप्ययमेवालंकारः। यत्तु वस्तुवृत्तस्य लोकसिद्धत्वान्नायमलंकार इति रसगङ्गाधरकार आह। तन्न युक्तम्। शुक्तिमुक्तयोः संबन्धस्य लोकप्रसिद्धिशून्यत्वात् ॥

(समालंकारलक्षणम्)

स समो वर्णनं यत्र द्वयोरेवानुरूपयोः ॥२६॥

परस्परमनुरूपयोः संबन्धस्य वर्णनं समालंकारः। अत्र वक्तव्यं विषमेऽवादिष्म। उदाहरणं मत्कनिष्ठभ्रातुः रामकृष्णभट्टस्य—

पस्पर्श विदुषो भक्तिवेदी दैवेन संगतिम्।
विदुषा दज्जुरामेण तदन्नं प्राप चण्डिका ॥

संगतिः=पाणिग्रहणम्, स्पष्टमन्यत्। न च नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेणेति न्यायात्कथमिह प्राप्नोतेर्द्विः प्रयोग इति वाच्यम्। उद्देश्यं प्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तो विषय एकपदप्रयोगनियमस्य तद्वति विषये तस्यैव प्रयोगं विना दोषात्। तात्पर्यावच्छेदकमहिम्ना भिन्नत्वेनैव प्रतीतेः। यथा वा—

विमर्श-स्वप्न-चित्तोऽपि विधिर्युक्तविधानकृत्।
पिचुमर्दफले काकः सहकारे हतः पिकः ॥

विमर्शः दृष्टिः। पिचुमर्दः निम्बः, स्पष्टमन्यत्। पूर्वोदाहरणे समसंबन्धः स्तुतिपर्यवसायी। अत्र निम्बकाकयोः सहकारपिकयोश्च संबन्धो निन्दापर्यवसायी स्तुतिपर्यवसायी चेति भेदः ॥

विषमालंकार का लक्षण—विषम इति—जहाँ एक ही जगह विरुद्ध दो वस्तुओं [illegible] वर्णन हो वह विषम होता है। उदाहरण—प्रतिकूल इति—हे देवि, प्रतीत होता है कि विधि तुम्हारे प्रतिकूल है क्योंकि तुम मेरे स्वामी के लिये दुर्वचन कह रही हो त्रिभुवनजेता मेरा स्वामी कहाँ, और तू अति निर्बल कहाँ। यहाँ दोनों विरुद्ध वस्तुओं की घटना होने से विषमालंकार है। स

का अर्थ यहाँ प्रसिद्ध है। शंका—इसी अर्थ मे सर्वनामों की शक्ति क्यो नही मानी जाती। उत्तर—सर्वनामो की शक्ति बुद्धिस्थत्व प्रकारक बोधजनन में है प्रसिद्धत्व प्रकारक बोधजनन मे नहीं। यद्यपि यत् और तद् का नित्यसबन्ध होता है तथापि प्रकरण में प्राप्त प्रसिद्ध और अनुभूत अर्थ वाला तद् शब्द यत् शब्द की अपेक्षा नही रखता। इसी प्रकार यत् शब्द तद् की अपेक्षा नहीं रखता जैसे 'मातृगुप्त.' इस पद्य मे, कहीं पर यत् तद् दोनों ही उल्लिखित होते हैं जैसे 'सा वाणी' पद्य मे और कहीं पर दोनो ही अर्थ से जाने जाते हैं। जैसे—'किं कुर्मः' पद्य मे, क्या करें कहाँ जावें, भारतीय सस्कृति को रक्षा कौन करेगा, विदेशी सस्कृति से यह दिनोदिन नष्ट होती जा रही है। अरे क्यो शोक करते हो, जो ईश्वर सदा से इस की रक्षा करता आया निःसन्देह वही रक्षा करेगा। उदाहरण मे दो क शब्द देवी और शुभ के रण का वैषम्य सूचित करते हैं। इसी तरह 'क शुक्तयः' मे भी यही अलकार जानना चाहिए।

समालकार का लक्षण—स सम इति—जहाँ पर दो अनुरूप वस्तुओं का वर्णन हो वह समालंकार होता है। उदाहरण—यत्प्रापेति—जो विदुषी पूज्य श्री भक्तिदेवी ने पूज्य श्री अज्जूरामजी को प्राप्त किया है वह सगत है।

शंका—यहाँ 'प्राप' पद दो बार कैसे कहा गया विरुद्ध होने से, उत्तर—एक पद का दो बार होना उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य भाव से अतिरिक्त स्थान मे दूषित होता है, ऐसी जगह नहीं। प्रत्युत ऐसी जगह दो बार अवश्य होना चाहिए, नही तो दोष होता है भिन्नवत् सी प्रतीति होने से। उदाहरण—विसर्ग इति—सृष्टि के निर्माण मे व्यग्र चित्त वाले भी विधि ने यह ठीक ही किया कि निम्ब के फल का मर्मज्ञ काक बनाया, और आम्रफल का कोयल। पहले उदाहरण मे सम-सबन्ध है और स्तुतिकृत् दूसरे मे क्रम से निन्दा और स्तुतिकृत्।

(व्याघातालकारलक्षणम्)

स व्याघातोऽन्यथाकारी तथाकारी भवेद्यदि।

येनोपायेन यत्कार्यमेकेन कृतं तदन्येन तदुपायकमेव तद्विरुद्धं चेत्

क्रियते तदा स व्याघातालंकारः। साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघात इति व्युत्पत्तेः। यथा मम—

खलानां वचनैः खिन्नं सज्जनं प्रीणयन्ति ये।
वचनैरेव ते धीरा जयन्ति जगतीतले॥

व्याहतेर्व्याघातेर्वा धीरिति भाष्यम्। धियं रान्तीति धीरा धैर्यवन्तः स्पष्टमन्यत्। अत्र वचनैरेव खेदनं प्रीणनं च। यद्यपि खल-सज्जनवचनानां नैक्यं तथापि एक-जातीयत्वादैक्यं विवक्षित्वैवमुक्तम्।

(विशेषालंकारस्य लक्षणम्)

स विशेषो विनाधारं यत्राधेयस्य वर्णनम् ॥२७॥

सर्वप्रसिद्धाधारपरिहारेणाधेयावस्थितिवर्णनं विशेषालंकारः। यथा मम दुर्गाभ्युदये—

इतिहासविदो नेदं श्रुतपूर्वमवाप्स्यति।
संहृत्य दैत्यनिचयं यादृशं चरितं त्वया॥

त्वयेति देव्या 'चण्डि' पुष्पवत्यपरीति नाम आकर्णिति सूत्रे भाष्योक्तेः। पुष्पवत्यमत्यद्संसराः त्रिषु सक्या इति कोशुरोत्तरोक्तेश्च लिङ्गभेदो नात्र दोषः। अत्र देवीरूपमाधारं विनैवाधेयभूतस्य चरित्रस्यावस्थितिवर्णनाद्विशेषालंकारत्वम्। 'वत्सरस्य गगनं देवी देवेभ्यश्च निष्ठुरम्। समरं कुरुते घोरं निराधारा सुरारिणा॥' इत्यस्मिन् दुर्गाभ्युदयपद्ये तु नायमलंकारः। निराधारत्वावच्छिन्नस्य स्वनाम्नैव निर्देशात्।

व्याघात का लक्षण—स व्याघात इति—जो कार्य जिसने एक उपाय से किया वही दूसरे ने उससे विरुद्ध किया तो वह व्याघातालंकार होता है। उदाहरण—खलानामिति—जो खलों के वचनों से खिन्न सज्जन को वचनों से ही प्रसन्न कर देते हैं वे धीर सर्वोच्च हैं यहाँ दुष्टों के वचनों से खिन्न पुरुष को सज्जनों ने वचनों से ही प्रसन्न किया।

विशेषालंकार का लक्षण—स विशेष इति—जहाँ प्रसिद्ध आधार के बिना ही आधेय का वर्णन हो वहाँ विशेषालंकार होता है।

उदाहरण—इतिहासेति—हे देवि, जो अद्भुत कृत्य तुमने दैत्यों को मारकर किया है उसको कोई भी इतिहासज्ञ भूल न सकेगा ॥ यहां देवी रूप आधार के बिना ही आधेयभूत देवी के पवित्र चरित्र की अवस्थिति वर्णन से विशेषालंकारता है । 'उत्पत्य गगनं' इस पद्य में यह अलंकार नहीं होता क्योंकि यहां निराधारत्वावच्छिन्न का स्वशब्देन निवेदन है कवि प्रसिद्ध आधार परिहार से ही अलंकारता मानी है ।

(यथासंख्यालंकारलक्षणम्)

क्रमेणोक्तपदार्थानां यथासंख्यं क्रमान्वयः ॥

क्रमेणोक्तपदार्थानां तेनैव क्रमेणान्वयो यथासंख्यमलंकारः । संख्यामनतिक्रम्य यथासंख्यमिति व्युत्पत्तेः । संख्याया अनतिवृत्तिश्च प्रथमस्य प्रथमेन द्वितीयस्य द्वितीयेनेत्यादिक्रमेण समन्वये भवति । यत्त्वत्र रसगङ्गाधरकारेणोक्तं, अत्र यथा संख्यतामात्रमेव नत्वलंकारः चमत्काराभावादिति तदसत् । एकत्र गद्ये पद्ये वा बहूनां क्रमान्वये चमत्कारानुभवादस्यालंकारत्वोपपत्तेः । चक्रवर्तिनाप्युक्तम्—एकत्रानेकेषां क्रमान्वयवैचित्र्यादस्यालंकारत्वमित्यलं परोक्तेषु शंकापंकाक्षेपेण । यथालंकारशेखरे—

परोद्वेगे परानन्दे खलसज्जनयोर्द्वयोः ।
स्वभाव एव शरणं विषपीयूषयोरिव ॥

यथा परोद्वेग जनकत्वं विषस्य परानन्दजनकत्वं चामृतस्य स्वभावस्तथा खलसज्जनयोरित्युपमार्थः । अत्र चमत्कारजनकं यथा संख्यान्वयादलंकारत्वम् । खलाः सज्जनाश्च सहृदयानन्दकृता—निर्णीताः । 'पात्रापात्रानां [redacted] सतां च किंचिद्विवेचनार्थं क्रियते न चिह्नम् । परस्य दोषेषु गुणेषु चामी प्रमोदलाभात्प्रकटीभवन्ति ॥

(समाध्यलंकारलक्षणम्)

समाधिर्यत्र कार्यस्य सौकर्यं कारणान्तरात् ॥२८॥

आकस्मिक - कारणान्तर - समवधानाद्यत्रारिप्सित-कार्यस्य सौकर्यं

जायेत स समाधिरलंकारः। एतेनाकस्मादीप्सितार्थ- लाभादिविषये प्रहर्षणनाम्ना रसगङ्गाधरकारोक्तो भिन्नोऽलंकारः परास्तः। अस्यैव तत्र संभवात्। भामभावेन भेदेऽलङ्कारानन्त्यप्रसङ्गादनवस्थादोषः। उदाहरणं मम—

> उत्कण्ठां कश्चिदाचक्रे यावदात्मविनिश्चये।
> तावदेव गुरोऽप्यासीद् वेदान्तविदुपागमः॥

आसीदुपागमेरयर्थः। अस्ति भवतिपर्वतिविधयः समानार्था इति वैय्याकरणाः मान्यन्ते। चार्वाकः—स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय इति श्रुतेः स्थूलशरीरमात्मेति वदति। अपर इन्द्रियाण्यात्मेति वदति। बौद्धोऽज्ञानमात्मानं वदति। एतत्सर्वमपहाय भाष्यानुसारश्रुतिभिर्नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभावं प्रत्यग् चैतन्यमेवात्मपदार्थ इति वेदान्तसारे निर्णयः। अधिकं मत्प्रणीतायां वेदान्त प्रकाशितायां तट्टीकायां द्रष्टव्यम्। अत्रोदाहरणे कार्यमात्मतत्त्वविनिश्चयः कारणं शास्त्रं, कारणान्तरं वेदान्तविदुपागमः। आत्मतत्त्वनिश्चये मोक्षो निश्चितः। तारकात्मानं जन्ममृत्यु प्रहारिणीरिति। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति च श्वेताश्वतरश्रुतौ।

यथासंख्य का लक्षण—क्रमेणेति—क्रम से कहे पदार्थों का क्रम से ही अन्वय होना यथासंख्य अलङ्कार होता है। संख्या का अनतिक्रम करके जो हो वह यथासंख्य है यह व्युत्पत्ति है। संख्या का अनतिक्रम प्रथम से प्रथम का द्वितीय से द्वितीय का इस समन्वय में है। रसगङ्गाधरकार ने चमत्काराभाव से इसमें अलङ्कारता नहीं मानी। यह ठीक नहीं, इस गद्य या पद्य में बहुतों का क्रमान्वय होना चमत्कारजनक होता है यही बात चक्रवर्ती ने अपनी प्रभाव टीका में सिद्ध की है। उदाहरण—परोदेन इति—विष और अमृत की तरह—दूसरों को दुःख देना खल का और आनन्द देना सज्जन का स्वाभाविक धर्म होता है। यहां चमत्कारजनक अन्वय होने से यथासंख्यालङ्कार है। खल और सज्जनों का निर्णय महूलानन्द काव्य कार ने किया है—जो दूसरों के दोष या दुःख में प्रसन्न होते हैं वे खल हैं और जो गुण या आनन्द में प्रसन्न होते हैं वे सज्जन हैं॥

समाधि का लक्षण—समाधिरिति—जहां कारणान्तर से कार्य का सौकर्य हो वहां समाधि अलंकार होता है। उदाहरण—उत्कण्ठामिति—एक सज्जन आत्मतत्त्व का निर्णय करना चाहता है, पर साधन केवल शास्त्र था और नहीं। इतने में ही अकस्मात् एक वेदान्त का मर्मज्ञ विद्वान् आ गया। चार्वाक (नास्तिक) एक श्रुत्याभास के आधार पर स्थूल शरीर को आत्मा मानता है दूसरा इंद्रियों को बौद्ध विद्वान् प्रज्ञान को आत्मा मानता है परन्तु ये इनके श्रुत्याभास सिद्धान्त श्रुतियों से बाधित हैं अतः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्यस्वभाव प्रत्यक् चैतन्य ही आत्मपदार्थ है। यहां कारण हैं शास्त्र; और वेदान्त शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् का आकस्मिक आजाना कारणान्तर है। आत्मा के निश्चय होने पर मोक्ष निश्चित है।

(तद्गुणालंकारलक्षणम्)

स्वगुणत्यागतोऽन्यस्य गुणग्राही च तद्गुणः।

स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहणं तद्गुणालंकारः।

उदाहरणम्—

पद्मरागायते नासामौक्तिकं तेऽधरत्विषा।
नीलोत्पलानि दधते कटाक्षैरतिनीलताम्॥

हे राधे, ते नासा=नासिकैव मौक्तिकं विनयादिरवात्स्वार्थे ठक्। अधरकान्त्या पद्मरागमणिरिवाचरतीत्यर्थः। ते कटाक्षैः कटाक्षविक्षेपैरेतानि नीलोत्पलान्यतिनीलतां दधते=धारयन्ति। नीलोत्पलानीत्यत्र विशेषणं विशेष्येण बहुलमिति समासः। अभेद-संबन्धावच्छिन्न-नीलत्वावच्छिन्न-नीलनिष्ठ-विशेषणता-निरूपित-विशेष्यतावन्ति उत्पलानीति शाब्दबोधः। पूर्वभागे नासामौक्तिकस्य स्वगुणत्याग-पूर्वकपद्मगुणग्रहणादत्तद्गुणत्वम्। परत्र परसंनिधानेन स्वगुणोत्कर्षावपि तद्गुणत्वमेव। मीलित-सामान्या-श्चस्यैव भेदो भेदाग्रहस्य तौल्यात्।

(अतद्गुणालंकारलक्षणम्)

स्वसंबद्धगुणाग्राही यः स प्रोक्तो ह्यतद्गुणः॥२६॥

स्वसंबद्धपदार्थ-गुणाग्रहणमतद्गुणालंकारः । उदाहरणं मम च्छायापद्यम्—

गाङ्गयामुनयोर्मज्जन् जलयोः शुक्लकृष्णयोः ।
हंस, त्वं शुभ्र एवासि नच कश्चिद्विपर्ययः ॥

मज्जनं सर्वावयवावच्छेदेन स्नानकरणम् । शुभ्र एव=शुभ्रत्वधर्माव-च्छिन्न एवासि वर्तसे, अत्र प्रकृतहंसद्वारा गाङ्गयामुनजलयोः शुक्लकृष्णगुणा-ग्रहणादतद्गुणत्वम् । नचास्य विशेषोक्तावेवान्तर्भावोऽस्त्विति वाच्यम् । परगुणाग्रहणरूपविच्छित्ति-विशेषजनकतयास्य पृथगलंकारतया निह्नोतु-मशक्यत्वात् । अन्यदीयगुणेनान्यगुणाभावस्य, अन्यदोषेणान्यदोषाभावस्य च वर्णनेऽप्ययमेवालंकारो मत् रसगंगाधरकारोक्तः पृथगवज्ञालंकार इत्यलंकारमर्मज्ञा विचारयन्तु किमस्माकं बहूक्तया ।

तद्गुणालंकार का लक्षण—स्वगुणत्यागादिति—अपने गुण को त्यागकर अन्य का गुण स्वीकृत करना तद्गुणालंकार होता है । उदा-हरण—पद्मरागायत इति—हे सुन्दरि, तुम्हारी नाक का मोती तुम्हारे अधरोष्ठ की कान्ति से पद्मराग मणि जैसा दीखता है और नील-कमल कटाक्ष कान्ति से अति नील हो गए हैं । यहाँ पूर्व भाग में नासा के मोती ने अपना गुण त्याग कर पद्म का गुण ग्रहण किया है और नीलोत्पलानि में दूसरे के सामीप्य से अपने गुण का उत्कर्ष होने से भी तद्गुण ही हुआ ।

अतद्गुण का लक्षण—स्वसंबद्ध इति—जो अपने से सम्बन्ध रखने वाले गुण का ग्रहण नहीं करता वह अतद्गुण अलंकार होता है । उदा-हरण—गाङ्गेति—हे हंस, तू सफेद और काले गङ्गा और यमुना के जल में स्नान करता हुआ भी सफेद ही रहा, कुछ भी विपरीतत्व नहीं आया यह आश्चर्य की बात है ॥

मज्जन=सर्वाङ्ग स्नान होता है । जहाँ धर्म और व्यापार एक में रहें यह धर्मभंश धातु होता है यहाँ मत मूपणकार का है । यहाँ प्रकृत हंस के द्वारा गङ्गा और यमुना के श्वेत और कृष्ण जल का ग्रहण नहीं किया गया, अतः अतद्गुण अलंकार हुआ । इस अलंकार का विशेषोक्ति

में अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि इसमें पर गुण का ग्रहण न करना रूप विच्छित्ति विशेष पृथगलंकारत्व साधक है।

(परिसख्यालकारलक्षणम्)

परिसख्या परित्यज्य पर पूर्वत्र यन्त्रणम् ॥

पर परित्यज्य पूर्वस्मिन्वस्तुनो नियमन परिसख्यालकार । यत्र कश्चित्प्रतिषेधेतरवस्तुव्यवच्छेदस्तत्रैवास्या अलकारत्वम् । तेन पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इति मीमांसकोक्ता परिसख्या नास्य विषय । यत्तु परिसख्या शब्दो लोके परिगणनवाचक इति नास्या अलकारत्वम् वर्ण्यमिति तत्तुच्छम् । आलकारिक-परिभाषितानां शब्दानां लोकविसवादस्याकिंचित्करत्वात् । उदाहरणम्—

भक्तिर्भवे न विभवे चिन्ता, यशसि नात्मनि ।
शास्त्रेऽभ्यासो न कामाख्ये विदुषा परिदृश्यते ॥

भवत्यस्माज्जगदिति भव ईश्वर । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इति श्रुते । 'जन्माद्यस्य यत' इति स्मृतेश्च । न चेश्वरसद्भावे किं प्रमाण न तावत्प्रत्यक्षम् । न चक्षुषा गृह्यते इति श्रुते । अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमय इति याज्ञवल्क्यस्मृतेश्च । नानुमान लिङ्गाभावात् । नाप्यागम । वेदानामीश्वरोक्तत्वेनेश्वराभावे वेदानामप्रमाणत्वात्तया च वैशेषिकसूत्र तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । इति चेच्छृणु । मनुष्यमात्रेणानवयवरचन सावयवत्वेन कार्यं नवेश्वरशिलादिक स्वकर्तारमीश्वरमाक्षिपति सकल स कर्तृक कार्यत्वाद्घटवदित्यनुमानात् । नात्मनि न शरीरे, अतएव आत्मा आत्मानं जानातीत्यत्रान्त करणावच्छिन्न कर्ता शरीरावच्छिन्न कर्मेति कर्मवत्सूत्रभाष्य सगच्छते । शास्त्रे वेदादिशास्त्रे अभ्यासो रुचि, कामाख्ये = रम्यादौ, अत्र भक्त्यादेर्भवाद्यतिरिक्ताधिकरणकत्व प्रतिषिद्धम् ॥

(उदात्तालकारलक्षणम्)

वर्णन तदुदात्त स्यात्समृद्धिशालिवस्तुन ॥३०॥

समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तालकार । यथा मम—

नूनमेव कुरुक्षेत्रं स्वर्गद्वारमुदीर्यते ।
यद्यापि पुण्यदध्यावेनंदो वहति यत्र वै ॥

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इत्यादिगीतोक्तेर्न केवलं धर्मक्षेत्रमिदमपि तु भोगक्षेत्रमपीत्याह—स्वर्गद्वारमिति । तथ महाभारतेऽप्युच्यते — ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे। कथमित्यत आह-यद्यापीति । भूतकालस्य तु कथनमेव किमिति व्यज्यते । मम्मटमते महतामङ्गत्वमपि सः । यथा मम-

सेयमयोध्या नगरी गरीयसी शक्रधाम्नोऽपि ।
यत्रावतीर्य रामोऽशेषान्निकयारमजान् जिग्ये ॥

सेयमिति । तदिदमोः सर्वनामत्वाविशेषेऽपि पूर्वानुभूतपुरोवर्तिविषयत्वान्नैकरूपताऽन्ययापर्यायतापत्तिः स्यात् । अत्र भगवान् रामो नगर्यङ्गम् । यथा वा ममैव—

स जयतु गणेशदत्तो गोस्वामी त्यागमूर्तिश्च ।
यन्नेतृत्वेऽद्यत्वे प्रचलति भूयान् सनातनो धर्मः ॥

परिसंख्या का लक्षण—परिसंख्येति—पर को त्याग कर पूर्व में वस्तु का नियमन कर देना परिसंख्या अलंकार होता है।

जहाँ पर कवि की प्रतिभा से अन्य वस्तु का निरास होता है वहीं पर परिसंख्या को अलंकारता है, अतः 'पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः' यह मीमांसकों की परिसंख्या इस अलंकार का विषय नहीं है । कुछ विद्वान् कहते हैं कि संख्या शब्द तो लोक में गणना का वाचक है यह नाम इसका ठीक नहीं है । परन्तु यह कथन निरर्गल है क्योंकि यह विसंवाद कुछ महत्त्व नहीं रखता । उदाहरण—भक्तिरिति—भक्ति शिव में होनी चाहिये न कि विभव (ऐश्वर्य) में, चिन्ता कीर्ति की होनी चाहिये न कि शरीर की, अभ्यास शास्त्रों में हो न कि काम-कला में, यह निष्ठा विद्वानों की है । भव नाम ईश्वर का है । ईश्वर के होने में क्या प्रमाण है । यदि प्रत्यक्ष कहो तो कौन प्रत्यक्ष, बाह्य अथवा आभ्यन्तर, बाह्य तो हो नहीं सकता ईश्वर को रूपरहित द्रव्य होने से, वेदों ने भी ईश्वर को रूपरहित माना है 'न चक्षुषा गृह्यते' ईश्वर का ग्रहण चक्षु से नहीं होता । स्मृति में भी

ऐसा ही माना है। आभ्यन्तर प्रमाण भी ईश्वर साधक नहीं क्योंकि ईश्वर आत्मसुखादि से भिन्न है। अनुमान प्रमाण भी ईश्वर साधक नहीं क्योंकि कोई भी लिङ्ग (चिह्न) न होने से लिङ्गलिङ्गी ज्ञान ही अनुमान होता है। आगम (शब्द) प्रमाण-वेद्य भी ईश्वर नहीं, क्योंकि वेद ईश्वरोक्त हैं। जब ईश्वर ही असिद्ध है तो वेद कहाँ। समाधान—मर्वदेश्वर शिलादि स्वयं तो नहीं बन सकते तो वे अपनी इच्छामात्र से कर्ता ईश्वर को सिद्ध करते हैं।

उदात्तालंकार का वर्णन—वर्णनमिति—समृद्धिशाली वस्तु का वर्णन उदात्तालंकार होता है। उदाहरण—नूनमेवेति—कुरुक्षेत्र प्रदेश अवश्यमेव स्वर्ग का द्वार है, जहाँ अब भी दूध दही का नाला बहता है। मम्मटाचार्य के मत में-महान् पुरुष जहाँ किसी के अङ्ग हो जाते हैं वहाँ भी उदात्तालंकार होता है। उदाहरण—सेयमिति—इन्द्र की नगरी (अमरावती) से भी बढ़कर यह अयोध्या नगरी है जहाँ श्रीराम ने अवतरित होकर समस्त राक्षसों का विजय अर्थात् विनाश किया था॥

सेयमिति—इस पद में तत् और इदम् दोनों ही शब्द सर्वनाम हैं परन्तु तत् का अर्थ है पूर्वानुभूतत्व और इदम् शब्द का पुरोवर्तित्व है इसीलिये पर्यायवाचकता इनमें नहीं। इस उदाहरण में श्रीराम नगरी के अङ्ग हो गये। दूसरा उदाहरण—स जयत्विति—त्यागमूर्ति गोस्वामी गणेशदत्त जी, विजय को प्राप्त हों जिनके नेतृत्व में सनातनधर्म सम्यक् तया प्रचलित है। यहाँ श्री गणेशदत्त जी सनातन धर्म के अङ्ग हुए।

(विकल्पालंकारलक्षणम्)

प्रतिभोत्थविरोधो यो विकल्पः समसत्त्वयोः ॥

यत्र कविप्रतिभोत्थितात्तुल्यबलयोर्विरोधाद् वैचित्र्यं तत्र विकल्पालंकारः। विरोधश्च समसत्त्वयोरेव योग्यः। अवच्छिन्नानवच्छिन्नयोर्विरोधानुपपत्तेः। यथा—

एको देवः केशवो वा शिवो वा॥

द्वयोरेककालावच्छेदेन सेवने, 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' इति भगवदुक्त्या-ऽनन्यभक्तत्वविरोधः स चैकाश्रयणपर्यवसानः। समबलं च द्वयोः 'यथा हरि-स्तथा हर' इत्यादौ समानैश्वर्यशालित्वोक्तेः। 'स ब्रह्मा स शिवः स हरिः' इति श्रुतेरेकत्वाभ्युपगमस्तु वस्तुतो न लोकतः।

अत्र विकल्प्यमानयोर्द्वयोरौपम्यमेवालंकारत्वबीजम्। 'ते धन्यास्ते महात्मानस्तेषां लोके स्थिरं यशः। यैर्निबद्धानि काव्यानि ये वा काव्येषु वर्णिताः॥' इत्यादौ तु समुच्चयार्थो वाशब्दो न तु विकल्पार्थ इति नास्य विषयः।

(काव्यलिङ्गालंकारलक्षणम्)

समर्थनार्हस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं मतं बुधैः ॥३१॥

समर्थनार्हस्यार्थस्य समर्थना निष्पादनं, काव्यलिङ्गमलंकारः। काव्याभिमतं लिङ्गं काव्यलिङ्गम्। तार्किकाभिमतलिङ्गत्व-व्युदासाय काव्यग्रहणम्। लिङ्गमत्र हेतुः। तत्स्वरूपमग्निपुराणे—सिषाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधक इति। पञ्चम्यादिविभक्तिप्रतिपादितहेतुकत्वस्य हेतो-र्व्युदासाय लक्षणे समर्थनपदम्। गम्यमानहेतुकत्वस्यैव हेतोरालंकारिकैः काव्यलिङ्गत्वाङ्गीकारात्। तेन धूमेन पर्वत इत्यत्र नालंकारत्वम्। यत्तु रसगङ्गाधरकारेणोक्तं काव्यलिङ्गं नालंकारः। हेतुहेतुमद्भावस्य लोक-सिद्धत्वादिति तन्न सम्यक्। गम्यमानहेतुत्वहेतोः चमत्कारजनकतया लोकसिद्धत्वाभावात्। उदाहरणमस्मच्छिष्यपण्डित-शिरोमणि-शिवदत्त-पादानाम्—हरमुरस्मरणानुभूतशिवभावापगतसंभ्रमः।

सांसारिकसुखं मन्ये तृणेन सदृशं लघु ॥

हर सुखं भावयतीति हरमुः। तस्य स्मरणेन समुत्पन्नमुत्पन्नं, पाषाणस्यापि द्रवतीत्याद्यनुत्पन्ने इत्यादयोऽपि भट्टोजिदीक्षितोक्तेः। 'अनेकार्था हि धातव' इति व्याकरणोक्तेश्च। प्रभूतानां सोऽहमित्यादिधुनेः शिवार्पण-त्वरूप तेन गतो नष्टः संभ्रमो यस्य सः। स्पष्टमन्यत्। अत्र पूर्वार्धेनोत्त-रार्धं समर्थितम्। यथा वा मम—

नन्दनन्दन-पादाब्ज-भक्त्यानन्द-परिप्लुताः ।
कामयन्ते न वै कुण्ठं वैकुण्ठमपि पण्डिताः ॥

वैकुण्ठस्य विष्णोर्वैकुण्ठं लोकमपीत्यपिना स्वर्गादेस्तु कथैव केति ध्वन्यते । अत्रोत्तरार्धेन पूर्वार्धं समर्थितमिति भेदः । अयमलंकारो वेदेऽपि दृश्यते । अक्षैर्मा दीव्य. कृषिमित् कृषस्वेत्यादौ ॥

विकल्प अलकार का लक्षण—प्रतिभोत्थ इति—जहाँ समान बल वाले वस्तुओ का कविप्रतिभोत्थित विरोध हो वहाँ विकल्पालकार होता है । उदाहरण—एक इति—देव एक ही उपास्य है केशव या शिव । एक समय में दोनो की उपासना अनन्यभक्तत्वनिषेधक है । समबल दोनो का प्रसिद्ध है ।

यहाँ विकल्प्यमान दो वस्तुओ का औपम्य ही अलकारता का कारण है । 'से पश्या' इस पद्य मे वा-शब्द समुच्चयार्थक है न कि विकल्पार्थक इसीलिये यहाँ यह अलकार नही ।

काव्यलिङ्ग का लक्षण—समर्थनार्हस्येति—समर्थना योग्य अर्थ का समर्थन करना काव्यलिङ्ग अलकार होता है । तार्किकाभिमत लिङ्ग के निरासार्थ काव्य-पद पढा । लिङ्ग नाम हेतु का है उसका स्वरूप अग्निपुराण मे दिया है—सिषाधयिषित अर्थ का जो साधक है वही हेतु होता है । पञ्चम्यादि-प्रतिपादित हेतु यहाँ विवक्षित नही है अपितु गम्यमान हेतुकत्व ही हेतु काव्यलिङ्ग माना गया है । अत 'नास्ति घटोऽनुपलब्धे.', 'दण्डेन घट.' इत्यादि में यह अलकार नही होता ॥

रसगङ्गाधरकार ने इस अलकार का खण्डन किया है वह ठीक नहीं क्योंकि उसने लिखा है कि इसमे लौकिक हेतुहेतुमद्भाव रहता है कोई चमत्कार नहीं परन्तु हम देखते हैं कि इसमें गम्यमान हेतुकत्व हेतु है लौकिक नही अतएव चमत्कार है । उदाहरण—शम्भुस्मरणेति—भगवान् शकर के स्मरण से जन्य जो ज्ञान उससे नष्ट हो गया है संभ्रम (अज्ञान) जिसका, वह मैं सासारिक सुख को तृण के समान तुच्छ मानता हूँ । यहाँ पूर्वार्ध भाग से उत्तरार्ध की बात का समर्थन किया गया है ।

दूसरा उदाहरण—नन्दनन्दनेति—नन्द के पुत्र (भगवान् कृष्ण) के चरण कमल की भक्ति के आनन्द में मग्न पण्डित लोग, वैकुण्ठ (विष्णु) के वैकुण्ठ लोक को भी नहीं चाहते।

स्वर्ग आदि का तो कहना ही क्या यह बात यहाँ अपि से ध्वनित हुई। यहाँ उत्तरार्ध भाग से पूर्वार्ध भाग का समर्थन हुआ है यही पहले उदाहरण से भेद है। यह अलंकार 'अक्षैर्मा दीव्यः' यहाँ वेद में भी देखा गया है।

(प्रत्यनीकालंकारलक्षणम्)

प्रत्यनीकं रिपोः कस्मिन्संबन्धिनि पराक्रमः।

अशक्यशत्रुपक्षपातिनि कस्मिन्नपि पराक्रमकरणं प्रत्यनीकमलंकारः। अनीकप्रतीतिविग्रहः। शत्रुनिष्ठस्यापकर्षस्यानपनेनात्मनिष्ठं दुर्बलत्वं गम्यते। लोके शत्रुपराजयार्थमनीकं सैन्यं प्रयुज्यते तत्पराजयाशक्तौ तत्संबन्धिनः पराभवः क्रियते तथानीकतुल्यतया प्रत्यनीकमिति। यथा मैथिले—

जितस्तवास्येन विधुः स्मरः श्रिया कृतप्रतिज्ञौ मम तौ वधे ध्रुवः।
तवेति कृत्वा यदि तज्जितं मया न मोघसंकल्पपराः क्षितामराः॥

तव मुखस्य मुखेन विधुः चन्द्रो जितः। शरीरस्य कान्त्या कामश्च। तौ विधुस्मरौ मम दमयन्त्या वधे आरब्धे कृतप्रतिज्ञौ। कुतः कस्माद्धेतोः, स्वयमुत्प्रेक्ष्याह—तवेति कृत्वेत्यादि। अत्र नलेन जितो चन्द्रकामौ नलं जेतुमशक्तौ तत्पक्षपातिनीं दमयन्तीं पीडयत इति प्रत्यनीकालंकारः। अत्र संभावनाया विद्यमानत्वेऽपि नोत्प्रेक्षालंकारस्य प्रसङ्गः प्रत्यनीकस्य कृत-वैचित्र्यस्यैव चमत्कारातिशयजनकतया तेनोत्प्रेक्षा च अलंकारस्य तिरोधानात्॥

(काव्यार्थापत्त्यलंकारलक्षणम्)

काव्यार्थापत्तिरर्थस्य सिद्धिः कैमुतिकन्यायात् ॥३२॥

कैमुत्यन्यायेनार्थस्य संसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरलंकारः। मीमांसकार्थापत्तितस्तस्याः पृथक्कारणाय काव्यपदम्। यथा मम—

मनांस्यपि मुनीनां यं हरन्ति हरिणेक्षणाः ।
विषयासक्तचित्तानां प्राकृतानां कथैव का ॥

मनांस्यपीत्यपिर्भिन्नक्रमः मुनीनामपि मनांसीत्यर्थः। हरन्ति मोहयन्ति। विसिन्वन्ति विषयिणमनुबध्नन्तीति विषयाः स्त्र्यादयः। अत्र हरिणीदृग्विलासे मानसे पदमर्पितवति मुनीनामपि नास्ति कुशलं प्राकृतानान्तु का वार्तेत्यर्थापत्तिरापद्यते। यत्तु अत्र कैमुत्यन्यायमात्रमेव न त्वलंकारत्वमिति रसगङ्गाधरकारेणोक्तम्। तन्न युक्तम्। अनुभवसिद्ध-कैमुत्यन्यायचमत्कारस्य निरालम्बनत्वापत्तेरित्यलं परकीयदूषणगवेषणया। केनचित्पदेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापादनमर्थापत्तिः। यथा मम दुर्गाभ्युदये—

तव शरणं समुपागतो यदि ना कश्चन तापी ।
तर्हि सवितुरप्यग्रतो भवेत्तमः संस्थापि ॥

तापी तापत्रयवान्, मत्वर्थे इनिः ननु तप्तुं शीलमस्येत्यर्थे णिनिः। कृद्वृत्तेस्तद्धितवृत्तिर्बलीयसीति भाष्योक्तेः। ते च तापा आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकसंज्ञकाः। तत्राधिभौतिकं मानुषपशुपक्षिसरीसृपस्थावरनिबन्धनम्। आध्यात्मिकं शारीरं मानसं च। आधिदैविकं भूतप्रेतग्रहाद्यावेशनिबन्धनमिति। तमःसंस्था=अन्धकारस्य स्थितिः, न च कथं संस्था घुमास्थेतीत्वप्राप्तेरिति वाच्यम्। स्थः क चेति सूत्रे संस्थेति भाष्यप्रयोगात्। भवेत्—भवितुं शक्नुयात्, शक्यार्थे लिङ्। अत्र तुल्यकारणत्वादर्थान्तरं न्यायसाम्यादापद्यते। अयमलंकारो वेदेऽपि दृश्यते। यथा—यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति। यदि शृणोत्यलीकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥ यः पुमानध्ययनमकृत्वा वेदं परित्यजति तस्य वाच्यपि भाग्यं नास्ति फले भाग्यं नास्तीति किमु वक्तव्यमिति सायणभाष्यम्। अद्यत्वे तु—श्रौतस्मार्तविविधा स्मृतिस्तुतिविषया काचित्सा क्वापि लीना, क्षीणाकाणावधाणी द्रुहिणहरगिरः सौरभं नारभन्ते। आमाकोमरविलौक्तिकं गति गुणमतं गौरवाद् रवान्त, का शंका शंकरावेद्दृश्यमधिगते काव्यसाहित्यशास्त्रे॥

प्रत्यनीक अलंकार का लक्षण—प्रत्यनीकमिति—बलवान् रिपु के किसी सम्बन्धी पक्षपाती पर पराक्रम करना प्रत्यनीक अलंकार होता है। उदाहरण—जित इति—तुम्हारे (नल के) मुख से चन्द्रमा पराजित है और कान्ति से कामदेव, ये दोनों तुम्हें कुछ न कहकर तुम्हारे से संबन्ध रखने वाली मुझ (दमयन्ती) को पीड़ित कर रहे हैं परन्तु मैं प्रसन्न हूँ कि वे मुझको तुम्हारी वस्तु समझते हैं। यहाँ नल के मुख और कान्ति से पराजित चन्द्रमा और कामदेव, नल के पराभव करने में असमर्थ होकर उसकी प्रतिनिधि भूत दमयन्ती को पीड़ित करने लगे, अतः यहाँ प्रत्यनीकालंकार है। यद्यपि यहाँ उत्प्रेक्षा का प्रसङ्ग है तो भी प्रत्यनीक का चमत्कार अधिक है।

काव्यार्थापत्ति का लक्षण—काव्यार्थापत्तिरिति—जहाँ कैमुत्य न्याय से अर्थ का समाधान हो वहाँ काव्यार्थापत्ति अलंकार होता है। मीमांसकों की अर्थापत्ति के निरासार्थ काव्यपद पड़ा। उदाहरण—मनांस्यपीति—हरिणेक्षणा=सुन्दर स्त्रियाँ मुनियों के भी मन को हर लेती हैं, विषयासक्त साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है। यहाँ यह कहा है कि जिनका हावभाव मुनियों को भी मुग्ध कर देता है वहाँ विषयी जनों की क्या चर्चा॥

रसगङ्गाधरकार ने इस अलंकार के संबन्ध में लिखा है कि यहाँ कैमुतिक न्यायता मात्र है कोई चमत्कार नहीं, परन्तु यह कथन सम्यकता से रहित है क्योंकि कैमुत्यन्याय में चमत्कार है। किसी तुल्य न्याय से अर्थान्तर की सिद्धि भी यहाँ चमत्कार है। उदाहरण—तव शरणमिति—हे देवि, यदि तेरी शरण में आकर भी कोई दुःखी रह सकता है तो सूर्य के आगे अन्धकार भी ठहर सकता है। ये दोनों बात असंभव हैं। यहाँ एक अर्थ द्वारा तुल्य कारण होने से अर्थान्तर न्यायसाम्य से आपन्न हो जाता है अतः यहाँ अर्थापत्ति अलंकार होता है। यह अलंकार वेद में भी देखा जाता है। उदाहरण—योऽनधीत्य—जो पुरुष, वेद को न पढ़कर अन्य अर्थीत शास्त्र आदि उपन्यासादि को करता है, उसकी कार्यी

फलशून्य है, क्योंकि वह व्यर्थ ही वाणी को कष्ट देता है, उससे सुकृत मार्ग का ज्ञान नहीं होता। यहाँ कैमुत्य न्याय होने से अर्थापत्ति अलंकार हुआ। आजकल तो— श्रुति और स्मृति का स्मरणमात्र रह गया, कपिल-प्रणीत सांख्यविद्या—विलीन हो गई, कणादकृत वैशेषिकशास्त्र का पठन-पाठन लोग भूल गये, गौतमीय न्याय की तो सुगन्ध भी कहीं नहीं रही। भट्टपाद कुमारिल के तन्त्रवार्तिक और श्लोकवार्तिक का पठनपाठन आज कहाँ होता है? गुरु (प्रभाकर) का तंत्र भी कठिन होने से प्रचलित नहीं हो सका, शाकर (अद्वैत मत) तो नितान्त ही पाखण्ड सा हो गया, जब से काव्य साहित्यशास्त्र का प्रचुर प्रचार हुआ।

(सारालंकारलक्षणम्)

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो यो हि तत्सारमुच्यते।

यत्र पूर्वपूर्वापेक्ष योत्तरोत्तरस्योत्कर्षः चरमस्य सर्वोत्कृष्टत्वपर्यवसायी तत्र सारालंकारः। सारमिति सामान्ये नपुंसकं मृदु पचतीतिवत्। अतएवोक्तं भाष्ये—'शाक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुमिति। यथा वाग्भटालंकारे—

संसारे मानुष्यं सारं मानुष्यके तु वैदुष्यम्।
वैदुष्ये धर्मित्वं धर्मित्वे चापि सदयत्वम्॥

मानुष्य=मनुष्यत्वम्, सारं श्रेष्ठं तस्य दुर्लभत्वात्। नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् इति भारतोक्तेः। दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्। मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥ इति भगवच्छंकरपादोक्तेश्च। वैदुष्यं मोक्षविषयकं ज्ञानम्। तच्च मोक्षसाधनमिहाभिप्रेतम्। नच— 'तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामुने।' इति कर्मणोऽपि मोक्षसाधनत्वश्रवणात्, ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति वाच्यम्। नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयमित्यादिना कर्मणो ज्ञानसाधनत्वोक्तेरिति कृतमप्रकृतविचारेण अत्र सदयत्व उत्कर्षो विश्राम्यति। यथा वा मम—

देशेषु भारतं सारं तत्र भारतमुत्तरम्।
तत्रापि च कुरुक्षेत्रं तत्र पण्डित-मण्डलम्॥

'भारत नूनमेवात्र पृथिव्यां सर्वतोऽधिकम्। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥ भारत देशो यत्रत्य, सर्वत सर्वदेशेभ्य सर्वप्रान्तेभ्यश्च। उभयोर्वैशिष्ट्यमाह—यदिहास्तीति। भारतान्तर्गत कुरुक्षेत्रमपि श्रुतिस्मृत्योर्गीयते। कुरुक्षेत्रं वै देवानां देवयजनमासेति श्रुति। आर्दो वै ब्राह्मणा जाता ब्रह्मक्षेत्रे तपोधना। ब्रह्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र ब्रह्मदेशो निगद्यते॥ इति स्मृति। अत्र पण्डितमण्डले उत्कर्षो विश्राम्यति। अयमलङ्कारो वेदेऽपि दृश्यते। यथा—

महत परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष पर।
पुरुषान्न पर किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति॥

अत्र सांख्ययोगाभिमतपुरुष उत्कर्षविश्राम-धाम। अपकर्षेऽपीममलङ्कारमाचक्षते विचक्षणा। यथा—

मृणालसूत्रतस्तूलस्तूलादपि च याचक।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं याचयेदिति॥

अर्थात्—याचक सर्वापकर्ष विश्रामभूमि।

(ससृष्टयलङ्कारलक्षणम्)

तिलतण्डुलसंश्लेषात्स्थिति ससृष्टिरुच्यते।

यत्र स्फुटभेदानां शब्दार्थालङ्काराणां तिलतण्डुलन्यायेन सङ्गम्यमाना स्थिति चमत्कारमाधानुमीष्टे तत्र ससृष्टेरलङ्कारत्वम्। यमकानुप्रासयो शब्दालङ्कारयो ससृष्टिर्यथा—

यो वैरिध्वान्तसूर्यो वसुमती-हीरो विनीतोऽत्र यो,
यो मानेन पृथु पृथुर्जयति यो निर्मायिनो रायव।
स वीतो भरतो रतो गुणगणैर्य शास्तु शास्तु,
संजाते त्वयि विश्रुम, निर्मिते, तर्केऽपि ते विस्मृता॥

यथा वा—पृथ्वीराजविजय-काव्ये जयानकस्य

तमम राजराजस्य राजराज इवाभवत्।
सद्गुह म गुणानां गुणानामिव भाजनम्॥

सुवृत्तानां=श्रेष्ठच्छन्दसां, सुवृत्तानां सज्जनानामिव । शब्दार्थालङ्काराणामनुप्रास-रूपकोपमानां यथाऽस्मच्छिष्य वामदेवोपाध्यायस्य—

निर्वापिते निजप्रकाशकदिव्यदीपे केनापि नाथ युवकेन महात्मगान्धौ ।
दृष्टिं न नन्दयति भारतभूमिरेषा, योषेव हाररहिता सहितापि रत्नैः ॥

अत्र रहिता सहितेत्यनुप्रासः । विषयतावच्छेदकरूपेण ज्ञाते विषये महात्मगान्धौ, विषयितावच्छेदकावच्छिन्नं विषयिणो दिव्य-दीपस्याभेदघटितं सादृश्यं रूपकम् । यद्यप्यभेदो न ससर्गः तथापीतरसंबन्धानवच्छिन्नविशेष्यविशेषणभावस्तेन विवक्षितः । इवसद्भावादुपमा, तत्र भेदघटितसादृश्यस्य उल्लासात् । यत्रारोपः स विषयः । यस्यारोपः स विषयीत्यपि बोध्यम् । यमकोपमारूपकानुप्रासानां यथा—

शिवः पायादपायान्नः शारदिन्दुसमप्रभः ।
भक्तहृत्सरसीहंसः चन्द्रोत्तंसः त्रिलोचनः ॥

त्रिलोचनः त्र्यम्बकः, त्र्यम्बकं यजामहे इति श्रुतेः । तत्र त्रीण्यम्बकानि लोचनानि यस्य स इत्यर्थः । अत्र देवविषयिणी कविनिष्ठा रतिरपि व्यज्यते। सा च भावः । व्यङ्ग्यत्वेन रसादेर्भावत्वात् । अत्र पायादपायादिति यमकम् । भक्तहृदयं सरस्यभिन्नतयावतिष्ठते इति रूपकं केवल भक्त-हृदये हंसस्थितेरनुपपत्तेः । हंसः उत्तंसः इत्यनुप्रासः ।

(संकरालङ्कारलक्षणम्)

नीरक्षीरन्यायेन सम्बन्धः संकरो मतः ॥३३॥

अत्र अपरिस्फुटभेदानामलङ्काराणां नीरक्षीरन्यायेन संकीर्यमाणत्वानुपकार्योपकारकभावः तत्र संकरालङ्कारः । यथा—

पाणौ पानीयमानीय पिपासुरपि पार्वती ।
शोणिते शोणितभ्रान्त्या भूयो भूयो विमुञ्चति ॥

भगवती पार्वती पिपासुरपि शोणिते रक्ते स्वपाणौ हस्ते पानीयं जलमानीय=गृहीत्वा शोणितभ्रान्त्या=रुधिरभ्रमेण, भूयोभूयः=पुनः पुनः विमुञ्चति=त्यजति। नचात्र शोणितपदं निहतार्थमिति वाच्यम् तत्र भ्रान्तिः

कारणत्वबोधेन शोणितावबोधात् । अत्र तद्गुणोऽङ्गी भ्रान्तिमानङ्ग-मिति तयोरुपकार्योपकारकभावः । न चात्रोन्मादो व्यङ्ग्यः स्वान्यस्मिन्न-न्यावभास एवेति वाच्यम् । भ्रान्तिमति सादृश्य-प्रयोज्यत्वोक्तेः । उन्मादस्य च सादृश्य-प्रयोजकत्वाभावात् । यत्र बहूनामलंकाराणां सन्देहः स सन्देह-संकरः । यथा मम—

विद्योन्नत्या यानविद्युत्प्रभूत्या कृष्यादिभ्यः पूर्णलाभाद्विभूत्या ।
किंचित्किंचित्सर्वसौख्यस्य वृद्धया हिन्दुस्थाने रामराज्यं प्रवृत्तम् ॥

हिन्दुपदं—गोरक्षकपरम् । हि कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वृहामभिवस्यां पयोऽघ्न्या इति श्रुतेः । तेषां स्थानं स्थितिर्यत्र तस्मिन् । रामस्य राज्यं राम-राज्यं, रामकर्तृक-प्रजाकर्मक पालनादि-सुखविशिष्टं राज्यमितिबोधः । अत्र किं हिन्दुराज्यस्य रामराज्यत्वेन वर्णनादतिशयोक्तिः । अथवा रामराज्य-प्रवृत्त्या हिन्दुराज्यप्रवृत्तिरवगम्यत इत्यप्रस्तुतप्रशंसा यद्वा हिन्दूनामुत्कर्षजनकः कालः सम्प्रति वर्त्तते इति प्रकारान्तरेण भिधानात्पर्यायोक्तमिति सन्देहसंकरः ।

सार अलंकार का लक्षण—उत्तरोत्तरमिति—यहाँ सार शब्द सामान्य नपुंसकलिंग है, जैसे 'मृदु पचति' में यही बात भाष्य में मानी है । उदाहरण—संसारे इति—संसार में मनुष्य-जन्म अति श्रेष्ठ है, उसमें भी ज्ञान होना, ज्ञान से धर्मात्मा होना धर्मात्माओं में भी दयालु होना सब-श्रेष्ठ है । यहाँ ज्ञान मोक्षसाधन (मोक्षजनक) लेना चाहिये । शङ्का—मोक्ष तो उपर्युक्त पद्य से भी कर्म के द्वारा माना गया है अत मोक्ष-साधन, ज्ञान और कर्म दोनों होने चाहियें—उत्तर—नित्य नैमित्तिक कर्म, ज्ञान का साधन माना है मोक्ष का साधन नहीं । यहाँ दयत्व में उत्कर्ष का विश्राम है ॥

दूसरा उदाहरण—देशेष्विति—सम्पूर्ण देशों में भारतवर्ष सब से श्रेष्ठ है उसमें भी उत्तर भारत, वहाँ पर भी कुरुक्षेत्र, उसमें भी पण्डितों की मण्डली सारभूत है । भारतवर्ष, सब से श्रेष्ठ इसलिये है कि यह कर्म-भूमि भी है और मोक्षभूमि भी, अन्य देश भोगभूमि ही हैं । इसलिये

देवता भी इसमे जन्म लेने की इच्छा रखते हैं। उत्तर भारत मे सर्वश्रेष्ठ कुरुक्षेत्र भूमि है, तभी महाभारत में इसको त्रिविष्टप (स्वर्ग) माना है। श्रुति स्मृति प्रमाणो से यह मुक्तिक्षेत्र है, इसमे मरे हुए पुरुषों की मुक्ति अवश्यमेव हो जाती है और उपर्युक्त प्रमाण से यह भी निर्भ्रान्त सिद्ध है कि महर्षियो की आदिम जन्मभूमि यही कुरुक्षेत्र है नकि पाश्चात्यो से कथित अन्य।

यह अलंकार वेद मे भी देखा जाता है—उदाहरण—महत इति—महत्तत्त्व से परे अव्यक्त (प्रकृति) है, प्रकृति से भी परे पुरुष है, पुरुष से परे कोई वस्तु नही, वह तो पराकाष्ठा है। भगवान् ने भी गीता मे कहा है 'मत्तः परतरं नास्ति'। यहा पुरुष नाम से ईश्वर अभिप्रेत है। जैसा कि योगसूत्र में लिखा है—'क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरः'। यहा पुरुष में उत्कर्ष का विश्राम था। यह अलकार अपकर्ष मे भी रहता है। उदाहरण—तृणादिति—तिनके से भी लघु रूई है, रूई से भी लघु याचक (मागनेवाला) है। वायु उसको इसलिये नही उड़ाकर ले जाता कि कदाचित् मेरे से भी यह कुछ माग न बैठे।

संसृष्टि का लक्षण—तिलतण्डुलेति—जहा शब्दालंकार और अर्थालंकारों का तिलतण्डुल न्याय से मेल हो वहा संसृष्टि अलकार होता है। शब्दालकार यमकानुप्रास की संसृष्टि का उदाहरण—यो वैरिष्विति—जो शत्रुओ के लिये अनल (अग्नि) तुल्य नल था, पृथ्वी का दीपरूप दिलीप राजा, परम सम्मानित सम्राट् पृथु, महामान्य श्री रामचन्द्र, समस्त नृप गुणो से भूषित दुष्यन्त पुत्र-भरत, स्मरणमात्र से कल्याणकारक शन्तनु राजा, हे पृथ्वीपते विक्रम, तुम्हारे गुणो से ये सब राजा लोग गतार्थ हो गये। दूसरा उदाहरण—तनय इति—चन्द्र बरदायी के पुत्र ने, जो चन्द्र के ही तुल्य था, पृथ्वीराज रासो मे श्रेष्ठ पुरुषो की तरह श्रेष्ठ छन्दों का संग्रह किया। अनुप्रास, रूपक और उपमा की संसृष्टि का उदाहरण—निर्वापित इति—किसी नाथुराम गोड्से नामक युवक के द्वारा महात्मा गांधी जी रूपी दीपक के बुझाये जाने से यह भारतभूमि, जवाहरादि रत्नो से

अलङ्कृत होती हुई भी हारशून्य स्त्रीवत् शोभित नहीं हो रही है। यहां रहिता सहिता में अनुप्रास है । महात्मा गान्धी रूपी दिव्य दीपक यहां रूपक है। इव होने से उपमा । यमक उपमा रूपक अनुप्रास की संसृष्टि का उदाहरण—शिव इति—भगवान् शिव, विघ्नों से हमारी रक्षा करें, शरद् इन्दु के समान वे सुन्दर कान्ति वाले हैं, भक्तों के हृदय रूपी तडाग में हंस सदृश हैं, चन्द्रमा जिनका शिरोभूषण है और तीन नेत्रों वाले हैं।

सङ्करालङ्कार का लक्षण—नीरक्षीरेति—जहां अपरिस्फुट भेद वाले अलङ्कारों का 'नीरक्षीर' न्याय से सङ्कीर्यमाण होने पर उपकार्य और उपकारक भाव का समव हो वहां संकर अलङ्कार होता है।

उदाहरण—पाणाविति—गुलाब के समान लाल वर्ण वाले हाथ में पानी पीने की इच्छावाली श्री पार्वती, जल लेकर उस जल को रुधिर के भ्रम से बार-बार हाथ से छोड देती है। यहां तद्गुणालंकार अङ्गी (प्रधान) और भ्रान्तिमान् अङ्ग (गौण) है इसलिये दोनों का उपकार्य और उपकारक भाव है। जहां बहुत से अलंकारों का सन्देह हो वह सन्देह सङ्कर होता है। उदाहरण—हिन्दुस्थान इति—स्कूलों से, सवारी से, घर-घर में बिजली तथा भाखडा जल से, कृषि, मकान, पोस्टालय, आकाशवाणी और सुखवृद्धि से हिन्दुस्थान में रामराज्य हो गया। श्री स्वामी करपात्र जी की 'रामराज्य' नामक एक संस्था भी है ।

अलंकारा गुणा दोषाः प्रसिद्धा एव दर्शिताः ।
अप्रसिद्धनिबन्धस्तु केवलं ग्रन्थविस्तरः ॥३४॥

वेदाब्धिके द्विसहस्रे विक्रमादित्यवत्सरे ।
विश्वमान्ये महाधन्ये देहली-नगरे वरे ॥३५॥

काठिन्य-विस्तरौ हित्वा यथाशक्ति दिया मया ।
साहित्यबिन्दुरुद्धृतः साहित्यामृतसिन्धुतः ॥३६॥

साहित्य-शास्त्रीय-ग्रन्था- सह स सन्ति यद्यपि ।
तथापि तेभ्य. सर्वेभ्यः चमत्कारोऽस्य दृश्यताम् ॥३७॥

देवता भी इसमें जन्म लेने की इच्छा रखते हैं। उत्तर भारत मे सर्वश्रेष्ठ कुरुक्षेत्र भूमि है, तभी महाभारत मे इसको त्रिविष्टप (स्वर्ग) माना है। श्रुति स्मृति प्रमाणो से यह मुक्तिक्षेत्र है, इसमे मरे हुए पुरुषों की मुक्ति अवश्यमेव हो जाती है और उपर्युक्त प्रमाण से यह भी निर्भ्रान्त सिद्ध है कि महर्षियो की आदिम जन्मभूमि यही कुरुक्षेत्र है नकि पाश्चात्यो से कथित अन्य।

यह अलकार वेद मे भी देखा जाता है—उदाहरण—महत इति—महत्तत्त्व से परे अव्यक्त (प्रकृति) है, प्रकृति से भी परे पुरुष है, पुरुष से परे कोई वस्तु नहीं, वह तो पराकाष्ठा है। भगवान् ने भी गीता में कहा है 'मत्त परतर नास्ति'। यहा पुरुष नाम से ईश्वर अभिप्रेत है। जैसा कि योगसूत्र मे लिखा है—'क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष-विशेष ईश्वरः'। यहा पुरुष मे उत्कर्ष का विश्राम था। यह अलकार अपकर्ष मे भी रहता है। उदाहरण—तृणादिति—तिनके से भी लघु रूई है, रूई से भी लघु याचक (मागनेवाला) है। वायु उसको इसलिये नही उड़ाकर ले जाता कि कदाचित् मेरे से भी यह कुछ माग न बैठे।

ससृष्टि का लक्षण—तिलतण्डुलेति—जहा शब्दालकार और अर्थालकारों का तिलतण्डुल न्याय से मेल हो वहा ससृष्टि अलकार होता है। शब्दालकार यमकानुप्रास की ससृष्टि का उदाहरण—यो वैरिविति—जो शत्रुओ के लिये अनल (अग्नि) तुल्य नल था, पृथ्वी का दीपरूप दिलीप राजा, परम सम्मानित सम्राट् पृथु, महामान्य श्री रामचन्द्र, समस्त नृप गुणों से भूषित दुष्यन्त पुत्र-भरत, स्मरणमात्र से कल्याणकारक शान्तनु राजा, हे पृथ्वीपते विक्रम, तुम्हारे गुणो से ये सब राजा लोग गतार्थ हो गये। दूसरा उदाहरण—तनय इति—चन्द्र बरदायी के पुत्र ने, जो चन्द्र के ही तुल्य था, पृथ्वीराज रासो में श्रेष्ठ पुरुषो की तरह श्रेष्ठ छदो का सग्रह किया। अनुप्रास, रूपक और उपमा की ससृष्टि का उदाहरण—निर्वापित इति—किसी नाथुराम गोड्से नामक युवक के द्वारा महात्मा गांधी जी रूपी दीपक के बुझाये जाने से यह भारतभूमि, जवाहरादि रत्नों से

अलंकृत होती हुई भी हारशून्य स्त्रीवत् शोभित नहीं हो रही है। यहां रहिता सहिता में अनुप्रास है। महात्मा गान्धी रूपी दिव्य दीपक यहां रूपक है। इव होने से उपमा। यमक उपमा रूपक अनुप्रास की संसृष्टि का उदाहरण—शिव इति—भगवान् शिव, विघ्नों से हमारी रक्षा करें, शरद् इन्दु के समान वे सुन्दर कान्ति वाले हैं, भक्तों के हृदय रूपी तड़ाग में हंस सदृश हैं, चन्द्रमा जिनका शिरोभूषण है और तीन नेत्रों वाले हैं।

संकरालंकार का लक्षण—नीरक्षीरेति—जहां अपरिस्फुट भेद वाले अलंकारों का 'नीरक्षीर' न्याय से संकीर्यमाण होने पर उपकार्य और उपकारक भाव का संभव हो वहां संकर अलंकार होता है।

उदाहरण—पाणाविति—गुलाब के समान लाल वर्ण वाले हाथ में पानी पीने की इच्छावाली श्री पार्वती, जल लेकर उस जल को रुधिर के भ्रम से बार-बार हाथ से छोड़ देती है। यहां तद्गुणालंकार अङ्गी (प्रधान) और भ्रान्तिमान् अङ्ग (गौण) है इसलिये दोनों का उपकार्य और उपकारक भाव है। जहां बहुत से अलंकारों का सन्देह हो वह सन्देह संकर होता है। उदाहरण—हिन्दुस्थान इति—स्कूलों से, सवारी से, घर-घर में बिजली तथा भाखड़ा जल से, कृषि, मकान, पोस्टालय, आकाशवाणी और सुखवृद्धि से हिन्दुस्थान में रामराज्य हो गया। श्री स्वामी करपात्र जी की 'रामराज्य' नामक एक संस्था भी है।

अलंकारा गुणा दोषाः प्रसिद्धा एव दर्शिताः।
अप्रसिद्धनिबन्धस्तु केवलं ग्रन्थविस्तरः ॥३४॥

वेदाधिके द्विसहस्रे विक्रमार्कस्य वत्सरे।
विन्ध्यमान्ये महायन्ये देहली-नगरे वरे ॥३५॥

काठिन्य-विस्तरौ हित्वा यथाशक्ति धिया मया।
साहित्यबिन्दुरुद्धृतः साहित्यामृतसिन्धुतः ॥३६॥

साहित्य-शास्त्रीय-ग्रन्थाः सन्ति बहवो यद्यपि।
तथापि सौम्यः सर्वेभ्यः अकल्प्यो[illegible] दृश्यताम् ॥३७॥

सर्वशास्त्रीय-विद्वत्त्वं कवित्वं चानुप्रासिकम् ।
यत्र साहित्यससारे ग्रन्थाः तेऽस्मान्न चापरे ॥३८॥

भासते भास्करो यावत् यावच्चन्दति चन्द्रमाः ।
तावन्मनो विनोदाय कवीनामस्तु वस्त्विदम् ॥३६॥

श्रीमत्पण्डितराज-पण्डित-जगन्नाथे प्रयाते दिवम् ।
किं शून्यासि किमाकुलासि कविते साहित्यवाग्देवते ।
एतं ग्रन्थकृतं निभाल्य कमपि प्रासादमासादय ।
संवास्य प्रतिभा स सूक्तिषु रस सा नव्यता भव्यता ॥४०॥

यत्ताऽस्ते हि गुणज्ञता समुदितो भूमानसूयाभरः ,
कालोऽयं कलिराजगाम महतां बुद्धेरपि भ्रामकः ।
अस्त्यैका विनयाधिका तव पुरो वाग्देवि मेऽभ्यर्थना ,
मद्ग्रन्थस्य रहस्यवेदन-परः कोऽप्यस्तु धीरः सदा ॥४१॥

इति महामहोपाध्याय श्रीछज्जूराम-शास्त्रि-विद्यासागर प्रणीते
साहित्यबिन्दौ पञ्चमो बिन्दुः ।

यहां हिन्दु राज्य का रामराज्यत्वेन वर्णन होने से अतिशयोक्ति अलकार है, अथवा—रामराज्य प्रवृत्ति कथन से हिन्दुराज्य की प्रवृत्ति अवगत हो जाती है इसलिये अप्रस्तुतप्रशसा नामक अलकार यहां है अथवा हिन्दुओ के उत्कर्ष का काल आ गया है, इस तरह—प्रकारान्तर से कह देने से पर्यायोक्ति अलकार है। यह सब सन्देहसकर अलकार है। अलकार, गुण और दोष प्रसिद्ध ही यहां रक्खे गये हैं, क्योंकि अप्रसिद्धो का निबन्धन करना केवल ग्रन्थ-विस्तार होता है। विक्रम स० २००४ में हमने भारत-राजधानी दिल्ली मे यथाशक्ति बुद्धिपूर्वक, कठिनता और विस्तार को छोडकर साहित्य-बिन्दु ग्रन्थ को साहित्यामृत सिन्धु से निकाला है। यद्यपि साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ हजारो हैं, परन्तु इस ग्रन्थ मे उन सबसे अधिक चमत्कार है। वह है, सर्वशास्त्रीय-विद्वत्त्व और अनुप्रास विशिष्ट कवित्व, जो इस ग्रन्थ में आपको मिलेगा। जब तक सूर्य भगवान्

पृथ्वी पर स्थित हैं और चन्द्रमा आह्लादित कर रहे हैं तब तक यह ग्रन्थ कविजनों का मनोविनोद करता रहे। हे साहित्य वाग्देवते कविते! तू पण्डित-राज जगन्नाथजी के अभाव से शून्य तथा खिन्न हो रही है। इस ग्रन्थकार को देखकर जरा सोधी संभाल। इनमें वही योग्यता, वही नवीन वर्णनक्षमता और रसिकता है। अब गुणज्ञता नहीं रही, असूया बहुत बढ़ गई, समय भी कलियुग आ गया जो महान् व्यक्तियों को बुद्धि को भी भ्रान्त कर देता है। हे वाग्देवि! तुम्हारे चरणों में विनम्र प्रार्थना है कि हमारे इस ग्रन्थ का रहस्य-ज्ञाता कोई न कोई व्यक्ति अवश्य बना रहे।

महामहोपाध्यायस्य महाकवि-शिरोमणेः।
श्रीछज्जूरामविद्याब्धेः प्रसादेन महागुरोः॥
पंजाब-विश्वविद्यालय-समुत्तीर्ण-प्रभाकरः।
शास्त्री जीवनरामाख्यो हिन्दी-टीकामिमां व्यधात्॥

इति महामहोपाध्याय श्री छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर सुत श्री जीवनरामशास्त्री, हिन्दी-प्रभाकर-कृता साहित्यबिन्दु-टीका समाप्ता॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः॥

श्लोकानुक्रमणिका



महामहोपाध्याय प० छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर

द्वारा रचित ग्रन्थ

(१)	न्यायसिद्धान्त मुक्तावली— परीक्षोपयोगि सरलटीकासहित	२ ००
(२)	न्यायदर्शन— परीक्षोपयोगि सरल टीका सहित	१ ००
(३)	वेदान्तसार— परीक्षोपयोगी सरल टीका सहित	० ७५
(४)	दुर्गाभ्युदय नाटक सटीक— श्री जीवनरामशास्त्री हिन्दी-प्रभाकर कृत हिन्दी टीका	१ ०० (यन्त्रस्थ)
(५)	संस्कृत का इतिहास—संस्कृत-हिन्दीमय	१.००
(६)	लघुकौमुदी साधनोदाहरणयुक्त— श्रीजीवनरामशास्त्री 'हिन्दीप्रभाकर' कृत हिन्दी टीका सहित	(यन्त्रस्थ)
(७)	कुरुक्षेत्र माहात्म्य—ओजपूर्ण हिन्दी टीका सहित	१ ००
(८)	महाभाष्य द्व्याह्निक परीक्षा टीका—	(यन्त्रस्थ)
(९)	निरुक्त पञ्चाध्यायि—परीक्षा टीका	(यन्त्रस्थ)
(१०)	संस्कृत का बृहत् इतिहास	(यन्त्रस्थ)

प्राप्तिस्थान

मेहरचंद लक्ष्मणदास

अध्यक्ष—संस्कृत-पुस्तकालय,

कूचा चेलां, दरियागंज, दिल्ली-६

प्रेसागृह तथा विक्रयालय—१ अनसारी रोड, नया दरियागंज, दिल्ली-६

बाल-हिन्दी-संस्कृत-कोष

रचयिता—आचार्य लक्ष्मीनारायण शास्त्री, विद्याभास्कर।

(मैट्रिक, हायर-सैकण्ड्री एव बी० ए० के सस्कृत छात्रों के लिए)

हिन्दी से सस्कृत मे अनुवाद करने के लिए सस्कृत पढनेवाले विद्यार्थियो को हिन्दी के सस्कृत शब्द, उनके लिङ्गादि जानने के लिए बडी कठिनाई होती थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए हमने उपरोक्त कोष बनवाया है जिससे हिन्दी का सस्कृत मे अनुवाद करना बडा सुगम हो गया है।

यह कोष चार भागो म बाटा गया है —

पहला भाग—इस भाग मे नित्यप्रति व्यवहार (इस्तेमाल) मे आनेवाले कुल हिन्दी शब्द अकारादि क्रम से देकर उनके सस्कृत शब्द लिख दिये गय हैं। सस्कृत शब्द लिखकर साथ ही लिङ्ग-प्रदर्शन भी कर दिया गया है ताकि विद्यार्थी को तुरन्त पता लग जावे कि यह शब्द पुल्लिग, स्त्रीलिग या नपुसकलिंग है।

दूसरा भाग—इस भाग मे अनुवादार्थ रोजमर्रा उपयोग मे आनेवाले कुल सस्कृत शब्दो को ५५ वर्गो मे बाट दिया है जैसे—पशुवर्ग, भोजनवर्ग, पात्रवर्ग, शाकवर्ग, वृक्षवर्ग इत्यादि। फर्ज कीजिए आपको 'बकरे' का सस्कृत शब्द चाहिए, आप तुरन्त पशुवर्ग निकालिए वहा आपको तुरन्त 'अज' शब्द मिलेगा और उसके साथ ही उसका अर्थ 'बकरा'। इसी तरह यदि आपको 'आटा' की सस्कृत चाहिए, आप तुरन्त भोजनवर्ग निकालिए, आपको वहा बिना परिश्रम किये 'गोधूम-चूर्णम्' शब्द मिलेगा और साथ ही उसका अर्थ 'गेहूँ का आटा'। ५५ वर्गो मे अनुवाद के काम मे आनेवाला कोई भी शब्द शेष नही रह गया।

इसके अतिरिक्त अव्यय वर्ग अलग दे दिया गया है जिसम सब अव्यय आपको मिलेंगे।

सख्यावाचक वर्ग अलग है जिसमे १ से लेकर पद्म तक की सख्या के सस्कृत शब्द दिये गये हैं।

एक और विशेषता देखिए—एक ऐसा अलग वर्ग दिया गया है जिसम अग्रेजी के नित्यप्रति बोलचाल मे आनेवाले शब्दो के सस्कृत रूप

दिये गये हैं। नमूना द्रष्टव्यः—

विमानविश्राम-स्थानम्	एयरोड्रोम	(Aerodrome)
प्रकाशनिरोधः	ब्लैक आउट	(Black out)
कुलपतिः	वाइस चान्सलर	(Vice Chancellor)

तीसरा भाग—इस भाग में शब्दों की रूपावलियां दी गई हैं। सर्वप्रथम कारकों के प्रत्यय, कारकों के विभक्तियों में अर्थ दिये हैं। तदनन्तर अकारान्त, आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त, ऋकारान्त, ओकारान्त और औकारान्त शब्दों के पुल्लिंग, स्त्रीलिंग एवं नपुंसकलिंग में प्रायः सभी उपयोगी शब्दों के रूप दिये गये है। इसके पश्चात् हलन्त शब्दों के तीनों लिंगों में रूप दिये गये हैं जिनमें रूपों को देखकर अनुवाद में सुगमता प्राप्त की जा सकती है। इनके साथ ही सर्वनाम शब्द और सख्या-शब्दों के रूप भी दिये गये हैं।

चौथा भाग—इसमें धातुओं की रूपावलियां दी गई हैं। संस्कृत व्याकरण में धातुओं के दस गण हैं और प्रत्येक गण के पृथक्-पृथक् चिह्न हैं। इन दसों गणों के भ्वादिगण, अदादिगण क्रम से दिये गये हैं। प्रत्येक गण की परस्मैपदी और आत्मनेपदी धातुओं के पांच कालों—वर्तमानकाल, भूतकाल, भविष्यत्काल, आज्ञा और प्रार्थनादि में रूप दिये गये हैं। तदनन्तर उस गण की प्रयोग में आनेवाली तत्सम सभी धातुओं के प्रत्येक काल का पहला पहला रूप दिया गया है। इस प्रकार विद्यार्थी किसी भी धातु के किसी भी काल के रूप का स्वरूप समझकर अनुवाद में प्रयुक्त कर सकता है।

संक्षेप में यह कह सकते है कि नई प्रणाली पर लिखित हिन्दी से संस्कृत और संस्कृत से हिन्दी शब्द एवं विस्तृत रूपावली सहित यह कोष बालकों के ज्ञान-वृद्धि का और अनुवाद का परम सहायक नवीन ग्रन्थ है। आशा है विद्यार्थी इससे यथोचित लाभ अवश्य उठायेंगे।

रचयिता के २० वर्ष के अध्यापन-अनुभव का यह निचोड है।

मूल्य चारों भागों का रुपया २.७५

मिलने का पता—मेहरचन्द लक्ष्मणदास, संस्कृत-पुस्तकालयाध्यक्ष
कूचा चेलां, पुराना दरियागंज, दिल्ली-६।